च तु र्थ अ ध्या य

' वितस्ता की लहरें ' का नाट्य शिल्प ---

चतुर्थ ~~तृतीय~~ अध्याय

'वितस्ता की लहरें' का नाट्यशिल्प --

भारत के प्राचीन विद्वानों ने और पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के संबंध में कई विचार व्यक्त किये हैं। नाट्याचार्य भरतमुनि ने सर्व प्रथम नाटक के शिल्प का सूक्ष्म विवेचन किया है। पाश्चात्य विद्वान, यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने सर्वप्रथम नाट्यकला पर अपने विचार रखे। उन्होंने अपने 'पोएटिक्स' ग्रन्थ में नाटक का विवेचन त्रासदी और कामदी इन दो प्रकार से किया है। त्रासदी का विवेचन करते समय अरस्तु ने नाटक के छ तत्त्व स्वीकार किए हैं। १) कथानक २) चरित्र-चित्रण 3) पद-रचना ४) दृश्य-विधान ५) विचार तत्व ६) गीत। नाट्य तत्वों के संबंध में आचार्य धनंजय ने वस्तु, नेता और रस तीन तत्व स्वीकार किए हैं।

भारतीय साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। आज के हिन्दी नाटकों का सृजन भी पाश्चात्य नाट्य-तत्वों के प्रभाव से ही हुआ है। पाश्चात्य नाट्यतत्व भारतीय तीन तत्वों में समाहित हो जाते हैं। भारतीय आचार्य रस को नाटक की आत्मा मानते हैं।

आज के सर्वस्वीकृत नाट्य तत्व --

१) कथावस्तु २) चरित्र-चित्रण 3) कथोपकथन ४) देश-काल वातावरण ५) भाषा-शैली ६) उद्देश्य ७) रंगमंचीयता ८) अभिनेयता।

लक्ष्मीनारायण मिश्र श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटककार हैं। अत: उनके 'वितस्ता की लहरें' नाटक का शिल्प की दृष्टि से विवेचन करते समय प्रचलित नाट्य तत्वों के आधार पर 'वितस्ता की लहरें' नाटक का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

कथा - विधान का स्वरूप --

नाटक की रचना-प्रक्रिया में कथानक का विशिष्ट महत्व है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्याचार्यों द्वारा कथानक की महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकृत हुई है। अरस्तु ने नाटक में कथावस्तु को चरित्र-चित्रण से भी अधिक महत्त्व दिया है। उसका दृढ़ मत है, कि चरित्र चित्रण के बिना नाटक बन सकता है, किन्तु वस्तु के बिना नाटक की रचना नहीं हो सकती। कथावस्तु नाटक की आधार भूमि है। उसके मतानुसार नाटकीय कथावस्तु स्वतंत्र तथा निरपेक्ष होती है, किन्तु उसका स्वरूप और विस्तार नियमों से नियन्त्रित रहता है। उसका दृढ़ मत है, कि कथावस्तु में आदि, मध्य और अन्त तीनों तत्त्व स्पष्ट होने चाहिए। उसके मतानुसार कथावस्तु का विन्यास ४ तत्त्वों में होना चाहिए ---

१) प्रस्तावना २) उपसंहार ३) अंक ४) ध्रुवक।

अरस्तु के मतानुसार कथावस्तु में घटना संकलन का होना बड़ा आवश्यक है। संकलन का अर्थ है, कि समस्त गौण कथाओं का आधिकारिक कथा से सम्बद्ध होना। अरस्तु के मतानुसार नाटकीय कथावस्तु में प्रासंगिक कथाओं की भरमार नहीं होनी चाहिए। नाटकीय कथावस्तु में अधिकतर जीवन के चमत्कारपूर्ण और भावमय चित्र ही संकलित किये जाने चाहिए। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रत्यभिज्ञान के दृश्यों को नाटकीय कथावस्तु में स्थान दिया जाता है। स्थिति परिवर्तन के दृश्यों से नाटक में करुणा और भय के भावों की सृष्टि होती है। नाटकों में आकस्मिक प्रभाव वैचित्र्य को भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। उसने केवल घटना-संकलन के सिद्धान्त का ही निरूपण किया था। इस प्रकार अरस्तु ने नाटकीय कथावस्तु के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया था।

प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रस्तावना एवं नान्दी पाश्चात्य नाट्याचार्यों द्वारा क्रमश: प्रोलोग एवं कोरस के रूप में स्वीकृत हुई है। मंगलाचरण से नाटकारम्भ कर भारतीय आचार्यों ने कथा की परिसमाप्ति शान्ति अथवा कल्याणमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ स्वीकृत की है। नाटक

के अंत में मंगल-कामना की अभिव्यक्ति ही 'भरत-वाक्य' है। नाटक में कम से कम पांच एवं अधिक से अधिक दस अंकों की व्यवस्था की जा सकती है।

रचना शिल्प की दृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने कथानक का सम्यक् विवेचन किया है। भारतीय विद्वानों के रसवादी होने के कारण कथाविकास पूर्व-निश्चित प्रारूप के अनुरूप विकसित होता है जहाँ कतिपय बाधाओं से निकलकर नायक फल-प्राप्ति में पूर्ण रूपेण सक्षम होता है। नायक के समस्त क्रियाकलाप के सुव्यवस्थित रूप एवं विकास प्रक्रिया को नाट्याचार्यों ने कतिपय विभागों में विभक्त किया है जिन्हें 'सन्धि' नाम से अभिहित किया जाता है। प्रत्येक सन्धि में एक अवस्था और एक अर्थ-प्रकृति अनिवार्यतः होती है। अर्थप्रकृतियाँ वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से तथा सन्धियाँ नाटक रचना के विभागों से सम्बन्धित होती हैं। कथावस्तु को प्रधान फल की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार युक्त अंश को 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं। फल के भोक्ता (प्रधान पात्र अथवा नायक) द्वारा कार्यारम्भ से फल-प्राप्ति तक जो कार्य किये जाते हैं उन्हें अवस्था कहते हैं।

पाश्चात्य नाट्याचार्यों के विचारानुसार संघर्ष रचना प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। कथानक में औत्सुक्य एवं तनाव के सतत निर्वाह की दृष्टि से इसका विशिष्ट महत्व है। भारतीय नाटकों में संघर्ष की अवतारणा प्रधान पात्र के चारित्रिक गुणों को प्रकट करने की दृष्टि से की जाती है। इस प्रकार भारतीय नाटकों में संघर्ष कथा-विकास का आधार है, तो पाश्चात्य नाटकों में तनाव एवं कौतूहल पूर्ण द्वंद्व है। कथा-विकास की दृष्टि से पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने कथानक को संवृति और विवृति इन दो भागों में विभक्त किया है। संवृति का कार्य-व्यापार के आरम्भ से उस स्थल तक रहता है जहाँ कथा उत्कर्ष अथवा अपकर्ष की ओर मोड़ लेती है। विवृति अथवा निगति का विस्तार उक्त परिवर्तन से प्रारम्भ होकर अन्त तक रहता है। संवृति में नाटककार घटनाओं को उलझाकर कौतूहल की वृद्धि करता है। विवृति में कौतूहल का परिशमन होता है। भारतीय आचार्यों के अनुरूप ही पाश्चात्य नाट्याचार्यों ने कथा को पाँच भागों में विभक्त किया है -- आरम्भिक घटना, कार्यविकास, चरमघटना, उतार अथवा निगति तथा फल।

रचना तन्त्र की दृष्टि से पाश्चात्य विचारकों ने कथानक को सरल तथा जटिल दो मार्गों में विभक्त किया है । सरल कथानक वह है, जिसमें स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य परिवर्तन हो जाता है तथा कार्य व्यापार एक ओर अविच्छिन्न होता है तथा जटिल कथानक में भाग्य-परिवर्तन स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनों के द्वारा होता है ।

कथावस्तु की संरचना - अभिव्यक्ति प्रणाली -

नाटकीय कथा - विधान हेतु नाटककार कतिपय प्रणालियों का अवलम्बन ग्रहण करते हैं ---

१) नायक केन्द्रित प्रणाली

२) संघटनात्मक प्रणाली

१) नायक केन्द्रित प्रणाली ---

जिस कथा में नायक को केन्द्र बनाकर उसके चरित्र के माध्यम से घटनाओं का विकास होता है उसे नायक केन्द्रित प्रणाली कहते हैं ।

२) संघटनात्मक प्रणाली ---

जिस कथा में घटना प्रसंगों की योजना इस प्रकार की जाती है कि प्रधान-पात्र उसी में उलझता, सम्हलता अपने चरित्र का स्पष्टीकरण करता चलता है ।

मनोवैज्ञानिक प्रणाली --

सहज एवं प्रत्ययकारी कथा प्रभाव हेतु मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण कर नाटककार कथा को सुसंगठित रूप में चित्रित करते हैं ।

सरसता एवं नीरसता पर आधृत प्रणाली ---

कथा की रसात्मक अभिव्यक्ति के आधार पर भारतीय आचार्यों द्वारा कथा-विभाजन अभिस्वीकृत हुआ है । सरसता एवं नीरसता के दृष्टि से कथा के दो भेद हैं -- दृश्य एवं सूच्य । जो सब के सुनने योग्य होने के कारण मंच पर प्रदर्शित किया जाता है वह दृश्य और जिसकी केवल मात्र सूचना दी जाती है वह सूच्य

कहते हैं । इस प्रकार नीरस अथवा अनुचित कथा की नाटककार द्वारा सूचना मात्र दी जाती है । इसके विपरीत मधुर और उदात्त रस तथा भावपूर्ण प्रसंगों का मंचीय प्रदर्शन होता है । सूच्या कथा वस्तु की सूचना विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार के माध्यम से दी जाती है ।

कथा के विभिन्न रूप --

भारतीय आचार्यों ने कथा की आधार की दृष्टि से प्रख्यात (इतिहास, पुराणादि) उत्पाद्य (कल्पित) एवं मिश्र-तीन रूपों में स्वीकृत किया है । भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप ही पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र में कथामूल के तीन आधार स्वीकृत हुए हैं -- १) दन्त कथा - मूलक २) कल्पना मूलक ३) इतिहास मूलक ।

(१) दन्त कथा - मूलक --

दन्त कथा-मूलक इसलिए आधार बनाया गया कि जो सम्भव है वही विश्वसनीय भी है और जो हुआ नहीं उसकी संभाव्यता में हम तत्काल विश्वास नहीं कर पाते ।

(२) कल्पना - मूलक --

कल्पना-मूलक में जैसे तैसे परम्परागत दन्त कथाओं को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है । घटनाएँ और नाम सभी काल्पनिक रख सकते हैं ।

(3) इतिहास मूलक --

यदि संयोग से ऐतिहासिक विषय भी ग्रहण करें तब भी उसका कवि रूप अक्षुण्ण रहता है, क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है, कि कुछ घटनाएँ जो वास्तव में घटी हैं । संभव और संभाव्य के नियम के अनुकूल न हो ।

' वितस्ता की लहरें ' की कथावस्तु --

प्रस्तुत नाटक में पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र ने पुरुकालीन भारतवर्ष को नवोपलब्ध ऐतिहासिक प्रामाणिक सामग्रियों के आधार पर विवेचित करने का प्रयत्न किया है। नाटक के प्रारंभ में ' सोलह वर्ष बाद ' शीर्षक में मिश्र जी ने ऐतिहासिक प्रामाणिकता संबंधित कई महत्त्वपूर्ण संकेत किया है। अशोक के तेरहवें शिलालेख में अलिकसुन्दर नाम आया है जो मकदूनियाँ के यवन विजयी एलेकजेण्डर का भारतीय रूप है। यूनानी इतिहासकारों ने सिकन्दर की विजय का जो कुछ लेखा-जोखा दिया उसी के आधार पर वितस्ता के तट पर उसकी विजय की बात हम भी मानने लगे हैं। इस नाटक का आधार वितस्ता के तट पर यवन सेना का पहुँचना, चोरी से वितस्ता पार करना और केकय वीर पुरु के साथ उसका युध्द है।

इस नाटक में मिश्र जी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि हमारी पुरानी संस्कृति की नींव पर ही नई संस्कृति का निर्माण समीचीन है। भारतीय प्राचीन संस्कृति का नए संदर्भ में विश्लेषण [illegible] है। [illegible] में नाटक की भूमिका में नाटककार का कथन है -- ' अनेक आघातों के बाद भी भारतीय संस्कृति अपनी पुरानी जड़ों से रस खींचती आ रही है। इतिहास के पृष्ठों पर जहाँ हमारी प्राचीन संस्कृति के ध्वंस चिह्न बिखरे पड़े हैं और उन्हें पहचानने वाला आज कोई नहीं है, ऐसी दशा इतनी लम्बी अवधि में हमारी नहीं हुई। इस ध्वंस की नींव पर यह देश नया निर्माण करता रहा है। इस नाटक [illegible] में प्रधान प्रेरणा यही रही है।[1]

नाटक में भी विभिन्न संस्कृतियों की आपसी टकराहट में भारतीय संस्कृति [illegible] प्रदान करने में मिश्र जी का कार्य प्रशंसनीय है। [illegible] ---

---

1 वितस्ता की लहरें - भूमिका - पृ.क्र. ६।

"वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी, जो अपने विधि-विधान और जीवन दर्शन में एक दूसरे के विपरीत थीं। यवन सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और कैकय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार। दोनों ने एक दूसरे को जाना और समझा और बहुत अंशों में वैर और द्रोह मिटाकर शान्ति और सहयोग के बढ़ने का अ अवसर दिया गया।"[1] संस्कृति प्रधान इस ऐतिहासिक नाटक में अलिकसुन्दर का चरित्र जैसा अंकित है, वह एवं कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ सन्दिग्ध हैं, किन्तु संसार विजय की उसकी इच्छा थी इसकी पुष्टि इतिहासकार ही करते हैं।

अलिकसुन्दर यवनदेश की सभ्यता को मिटाने के बाद अपने शिक्षा-गुरु अरिस्तातिल से शिक्षा लेकर यवन साम्राज्य की स्थापना करता है। फारस तथा मिश्र को पराजित करने के बाद वह भारत की ओर बढ़ता है, जहाँ तक्षशिला का नरेश आम्भी उसका स्वागत करता है। अश्वक और अभिसार को पराजित करने के बाद वह कैकय की ओर बढ़ता है। वहाँ कैकय की जनता भयग्रस्त हो जाती है तथा बड़ी संख्या में वितस्ता पार कर पुरु देश में आश्रय लेने के लिए आती है। इस बीच कैकय राजकुमार चन्द्रदत्त प्रातःकाल वितस्ता के तट पर आता है और [illegible] करते हुए [illegible] की दो कन्याओं तारा और रजनी को अपने यहाँ मर्यादापूर्वक ले आता है। रोहिणी चन्द्रदत्त की पत्नी है, उस पर कुमार का विशेष अनुराग है। युवराज जब तक्षशिला पार जाने वाले घाट पर जाते हैं तब रोहिणी चिंतातुर होती है। रजनी और तारा को वह माँ का, बड़ी बहन का स्नेह देती है। रजनी [illegible] शिला पर खींचे गए कुमार चन्द्रदत्त के चित्रों से वह जान लेती है कि [illegible] से कुमार से प्रेम करती है तब वह अत्यन्त सहृदयता से रजनी को [illegible] प्रेम देने पर उद्यत हो जाती है। साथ ही कैकय [illegible] पुरु [illegible] का प्रेम मिलता है। किन्तु इनकी [illegible] आतंक [illegible] नहीं हो पाता, जिससे [illegible] हुआ है। रजनी [illegible] जला दिया जाता है। आम्भी का पुत्र भद्रबाहु पुरु की शरण लेता है। आम्भी जब अलिकसुन्दर का स्वागत कर आगे बढ़ने में सहायता करता है, तब तक्षशिला

---

1 लक्ष्मीनारायण मिश्र - वितस्ता की लहरें - कथा-संकेत - पृ.क्र.७।

के आचार्य विष्णुगुप्त और स्नातक विद्रोह कर देते हैं। वे बर्बर यवनों से सामना करते हैं। तालेमी द्वारा मातंग मारा जाता है। आचार्य विष्णुगुप्त कुछ शिष्यों के साथ कैकय चले आते हैं। आर्तकामा को बन्दी बनाया जाता है। आचार्य विष्णुगुप्त के मत से कूट युध्द होता है। कूटनीति में सफलता प्राप्त करने के लिए आचार्य विष्णुगुप्त अरिस्तादिल को कूटनीतिक गुरु स्वीकार कर लेते हैं। पुरु वितस्ता के मध्यधार में यवन राज को आमंत्रित करता है। वह वहाँ उससे द्वंद्वयुध्द में हार जाने के बाद ही मार्ग देना चाहता है। भद्रबाहु के प्रति तारा आसक्त है।

किन्तु अलिकसुन्दर वचन भंग करके अंधेरी रात में वितस्ता पार कर लेता है। घमासान युध्द होता है। दो सहस्त्र कैकय सेना ग्यारह सहस्त्र यवन सेना से टक्कर लेती है। परिणामस्वरुप भयंकर रक्तपात होता है, तक्षशिला के युवक ताया का हरण करते हैं। ताया का हरण कूट-युध्द की प्रधान भूमिका बनता है। तब अलिकसुन्दर का सहायक निषाध का राजा शशिगुप्त घबरा जाता है। उसकी दृष्टि में भारतीय युध्द को ही अपना धर्म समझते हैं, तभी तो सभी युवा ही युध्द में भाग लेते हैं। आचार्य विष्णुगुप्त ताया से इस आशय का पत्र लिखवाते हैं कि 'अलिकसुन्दर [illegible] बन्द कर दें, अन्यथा ताया [illegible] कर लेगी।' इस पत्र से प्रभावित अलिकसुन्दर युध्द बन्द करने को तत्पर हो जाता है। वह शशिगुप्त से कहता है -- 'ताया के न रहने पर सम्पूर्ण [illegible] का मैं क्या करूँगा? कह दो वह [illegible] पुरु से ... मैं यहीं से लौट जाऊँगा। [illegible] युध्द बन्द कर दे।' (पृ.९५) किन्तु [illegible] पुरु का घायल और बिगड़ा हुआ कालनेमि हाथी उसको पकड़ लेता है। [illegible] के सूंड से बचा लेते हैं। इस प्रकार पुरु अलिकसुन्दर की प्राणरक्षा करते हैं और अलिकसुन्दर की पराजय होती है। महाराज पुरु और अलिकसुन्दर [illegible] से [illegible] एक-दूसरे से मित्र भाव से मिलते हैं। अलिकसुन्दर पुरु से कहता है -- 'यह विजय मेरी नहीं, मेरे [illegible] के [illegible] अहंकार [illegible] है जिसके सुख के लिए मैं यहाँ तक पहुँच गया।' (पृ.११०) इस प्रकार अलिकसुन्दर इस विजय यात्रा को अहं की संज्ञा देता है। वह महाराज पुरु से कहता है आपने मेरे प्राण क्यों बचाये? तब महाराज पुरु कहते हैं -- 'तुम्हें बचाकर मैंने आपने पुत्र की रक्षा की ... मेरी दया नहीं थी यह विजयी।

मेरी विवशता थी । अपने पुत्र के जीवन की कामना मेरी तभी होगी जब मैं उसकी अवस्था के किसी भी तरुणा के जीवन की कामना करूँ ।` (पृ.११२) उसका विश्वास है कि ताया का अपहरण पुरु की आज्ञा से हुआ है और उस पर राजकुमार रुद्रदत्त की दृष्टि पड़ी होगी । किन्तु जब उसे आचार्य द्वारा पता चलता है, कि ताया का हरण कूट-युद्ध की भूमिका थी, तब वह आचार्य को अरिस्तातल के समकक्ष मान लेता है । बाद में ताया भी यह बताती है, कि` इस देश के निवासी पराई स्त्री को माता मानते हैं । मेरी आँखों में सीधे किसी ने देखा तक नहीं । जितना डरते हैं ये अपनी माता भवानी से, उतना ही मुझसे भी डरे हैं । (पृ.११७) और वह उसे यह भी बताती है कि` पति से बड़ा देवता इनका कोई नहीं होता । दूसरे पुरुष के संसर्ग से बड़ा पाप भी इनके लिए कोई दूसरा नहीं है । नारी के इसी भाव से यहाँ का एक पुरुष पारस के सौ पुरुषों के बराबर है ।` (पृ.११९) इस प्रकार ताया उसे बताती है, कि नारी के प्रति भारतीयों की दृष्टि बहुत पवित्र है । वह नारी को आदर और पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं, तब अलिकसुन्दर का यह शक दूर होता है ।

अलिकसुन्दर और शशिगुप्त को यह भी विश्वास है कि भारतीयों के शस्त्र मंत्रबल से चलते हैं । अलिकसुन्दर को अपने कर्तव्य पर घोर पश्चाताप होता है । उसके मन में यह भावना बैठ जाती है कि भारत अजेय है ।

अन्त में आम्भी भी अपनी गलतियाँ स्वीकार करता है और इस सारे अनर्थ का कारण अपने सिर पर लेता है, किन्तु महाराज पुरु उसको हृदय से लगा लेते हैं और उसके पुत्र भद्रबाहु को आज्ञा देते हैं, कि वह अपने पिता के आचरण का न्याय न करके उनको सम्भाले ।

इस प्रकार नाटक का अंत सुखांत है । नाटक में जो जिसके स्नेह का आलम्बन चाहता है, उसे मिल जाता है, अलिकसुन्दर को ताया, भद्रबाहु को तारा, कुल के एक पत्नी के विधान के बाद भी रजनी को रुद्रदत्त [illegible] के देखने के साथ ही ताया के इस वाक्य से सबका मनोमालिन्य वितस्ता की लहरों में लुप्त हो जाता है, ` मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो ।`

इस प्रकार ' वितस्ता की लहरें ' नाटक कथावस्तु की दृष्टि से सफल नाटक है ।

पात्र-चरित्र-चित्रण विधान का स्वरुप --

कथावस्तु के बाद चरित्र-चित्रण यह दूसरा उल्लेखनीय नाटकीय तत्त्व है । हडसन के मतानुसार किसी भी नाट्य-कला का सबसे महत्वपूर्ण और चिरन्तन तत्व चरित्र-चित्रण ही होता है । चरित्र-चित्रण नाटक का प्राण है । चरित्र-चित्रण कला का इस युग में सम्यक् विकास हुआ । उसकी अनेक शैलियाँ हैं ।

नाटक में जिन चरित्रों का रुप धारण करके अभिनेता रंगमंच पर अभिनय करते हैं उन्हें पात्र कहते हैं । अपनी नाट्य कृतियों में विविध वृत्तियों, जीवन दृष्टियों, मान्यताओं, परिस्थितियों, कार्य-क्षेत्रों, क्रिया-कलापों, भौगोलिक, ऐतिहासिक देश-कालादि भेदों से परिपूर्ण पात्रों को विद्वानोंने निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया है ---

प्रकृति के आधार पर - उत्तम मध्यम और अधम ।

शील के आधार पर - धीरोद्धत, धीरोदात, धीरललित और धीर प्रशान्त ।

स्नेह-व्यवहार के आधार - प्रिय, विनीत, कान्त, नाथ, स्वामी और नन्द ।

रति-व्यवहार के आधार पर - चतुर, उतम, मध्यम, अधम और सम्प्रवृध्द ।

क्रोध पूर्ण व्यवहार के आधार पर - दुराचारी, दुश्शील, वाम, निरुपक, निर्लज्ज और निष्ठुर ।

श्रृंगार रस के आधारपर - श्रृंगार सहायक पात्र- विदुषक, चेटी, माली, धोबी आदि ।

फल प्राप्ति के आधार पर - नायक, प्रतिनायक ।

अर्थ चिन्तन में सहायक - मंत्री, कोषाध्यक्ष ।

धर्म के सहायक - पुरोहित, यान्त्रिक, आत्मज्ञानी, तपस्वी ।

दण्ड विधान में सहायक - नायक के सहृदय मित्र, राजकुमार, सामन्त, सैनिक, आदि के अतिरिक्त अन्यान्य वे पात्र भी इसी के अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं, जो विवेक बुध्दि के आधार पर अन्याय के दमन में सहायक होते हैं ।

अन्त:पुर में सहायक पात्र	-	इस वर्ग में वे पात्र आते हैं, जो नाटक की काममावना में सहायता करते हैं और नायक की प्रेयसी को उसके प्रति आकर्षित करते हैं ।
संवाद सहायक पात्र	-	संवाद वाहक का कार्य करने वाले पात्र ।

नायकों के उक्त वर्गीकरण के अनुसार नायिकाओं को भी विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया गया है --

दिव्य एवं आदित्य जातियों के शील के अनुरूप	-	देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व, नाग, पिशाच, नर, वानर, मृग आदि ।
सामाजिक व्यवहार के अनुसार	-	कुलीन, वेश्या तथा शुद्ध भाव से प्रिय के साथ रहनेवाली ।
अवस्थानुसार	-	स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, अभिसारिका ।
प्रेम के अनुसार	-	मदनातुर, अनुरक्ता, तथा विरक्ता ।
प्रकृति के अनुसार	-	उत्तम, मध्यम और अधम ।
यौवन के अनुसार	-	प्रथमा, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ यौवना ।
अन्त: पुर संबंधी	-	महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थापिका, नर्तकी, शिल्पकारिणी, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रतिहारी कुमारी आदि ।

ऐतिहासिक नाट्य-कृतियों की परिसीमाओं को देखते हुए चरित्रों को मुख्यत: तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है ---

पूर्ण ऐतिहासिक

अर्ध ऐतिहासिक

काल्पनिक ऐतिहासिक ।

स्थूलत: पात्रों के व्यक्तित्व आधारभूत गुणावगुणों का उल्लेख चरित्रांकन कहलाता है। किन्तु नाटककार अपनी प्रतिभा के बल पर आवश्यक प्रसंग की सृष्टि करके गुणावगुणों को जीवन व्यवहारों के माध्यम से सरस, सजीव एवं मांसल रूप में प्रतिपादित करता है। चरित्र चित्रण के संदर्भ में निम्नलिखित महत्वपूर्ण प्रणालियों का अवलम्ब ग्रहण किया जाता है।

चरित्र चित्रण की विभिन्न प्रणालियाँ --

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मन को एक इकाई के रूप में स्वीकार किया है। उसका सद और असद रूप ही माना है। फ्रायड, एडलर, युंग आदि पाश्चात्य मनोविश्लेषकों ने पात्र के व्यक्तित्व निर्माण में अचेतन मन की प्रधानता स्वीकार करते हुए उसके सद असद रूप को एक साथ स्वीकार किया है। इसके कारण चरित्र-चित्रण में सजीवता एवं गूढ़ता का समावेश हुआ है। मन के चेतन, अचेतन, अवचेतन के परिप्रेक्ष्य में स्वच्छिन्न [illegible] पूर्व स्मृति, निराधार प्रत्यक्षीकरण, स्वप्न विघटन, मुक्त-संग प्रणाली तथा बाधकता आदि मनोविश्लेषणात्मक शैलियों के द्वारा आज का नाटककार अपने चरित्रों का सजीव अंकन करने लगा है। इन शैलियों के अतिरिक्त पात्र के नामकरण, बाह्य परिस्थिति, प्रथम परिचय तथा बाह्य आकृति वेशभूषा आदि प्रत्यक्ष शैलियों के द्वारा भी चरित्र का निरूपण किया जाता है।

नामकरण --

चारित्रिक गुण को आधार मानकर उसका नामकरण करके नाटककार चरित्रांकन करता है। किन्तु इस शैली में चरित्र के सहज स्पष्ट हो जाने के कारण जहाँ जिज्ञासा समाप्त हो जाती है, वहीं मूल चारित्रिक गुणों की रक्षा के लिए उसे सीमित क्षेत्र में रहना पड़ता है। नाम, रूप आचरण के कारण ऐसे चरित्र विकास स्वाभाविक रूप से ही यह कष्ट-साध्य है।

बाह्य परिस्थितियों के द्वारा --

चरित्रों का परिवेश एवं परिस्थितियाँ उनके व्यक्तित्व एवं क्रिया-कलापों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अवश्य प्रभावित करती हैं। इसके कारण नाटककार उनकी विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण कर चरित्र निरूपण करता है। परन्तु केवल मात्र बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रेरित पात्र के व्यवहार मात्र से चरित्रांकन सम्भव नहीं है। किन्तु चरित्र चित्रण में पात्र की आन्तरिक प्रेरणाएँ, वृत्तियाँ, वंशानुक्रम, अर्जित गुण आदि का महत्त्वपूर्ण योग होता है।

आकृति एवं वेशभूषा --

पात्र की आकृति एवं वेशभूषा के द्वारा निरूपित चरित्रों में पात्र की बाह्य आकृति तो अवश्य स्पष्ट हो जाती है, परन्तु उसकी चारित्रिक विशेषताएँ अस्पष्ट रह जाती हैं। चरित्र अन्तःकरण के अनुरूप विकसित होता है। उसका प्रकटीकरण पात्र के क्रिया के द्वारा होता है जिसके अभाव में दर्शक का मन रचना से दूर हो जाता है।

क्रिया कलाप एवं संवादादि की दृष्टि से नाटककार के आदर्श एवं मान्यताओं से युक्त पात्रों का व्यक्तित्व नाटकीय शैलियों में अधिक निखार पाता है। इन शैलियों में पात्रों का अपना व्यक्तित्व रहता अवश्य है परन्तु यह अचेतन मन के प्रतिफलन की अपेक्षा चेतन मन का प्रकाशन मात्र होता है। जिसपर परोक्ष रूप से नाटककार का नियंत्रण रहता है।

क्रिया - कलाप --

इस विधि द्वारा पात्र अपनी क्रियाओं द्वारा अपने चरित्र पर प्रकाश डाल कर अपने तथा दर्शकों के बीच की भावनात्मक दूरी कम करते हैं। पात्र अपनी जीवन शैली के अनुसार अपनी भावनाओं का संकलन उद्बुद्ध करता है। इस कार्य की सफलता ही पात्र की सफलता है, जिसके लिए वह क्रियाओं का माध्यम अपनाता है। ऐसी क्रियाएँ पात्र को समझने, उसको जान लेने की सामग्री भी उपलब्ध करती हैं।

नाटकों में सभी पात्रों के क्रियाएँ सभीप्राय होती हैं । क्रिया का यही सोद्देश्य कारण उसके चरित्र को स्पष्ट करता हैं । यदि पात्र अपनी क्रियाओं के प्रति सजग नहीं रहता और क्रिया का वास्तविक अभिप्राय उसका प्रयोजन स्पष्ट नहीं कर पाता तो उसका चरित्र अस्पष्ट रहता हैं ।

चरित्रांकन की दृष्टि से क्रिया को व्यापक अर्थ लिया जाता है । पात्र की शारीरिक क्रियाओं के साथ ही उसका सम्भाषण और उसकी मानसिक दशाएँ भी आती हैं । नाटक में पात्र का मौन अथवा शारीरिक क्रियाहीन स्वरूप भी क्रिया के अन्तर्गत आ जाता हैं । इन क्रियाओं से पात्र का चरित्र समुचित रूप से स्पष्ट होता हैं । पात्र की मानसिक दशाएँ अथवा उसकी क्रियाएँ भी नाटकीय होने के कारण चरित्र-चित्रण में सहायक होती हैं ।

कथोपकथन --

कथोपकथन से पात्रों के मनोभावों, विचारों परम्पराओं और जीवन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त होता हैं । पात्र के मन का विचार जानने के लिए कथोपकथन विशेष सहायक होते हैं । पात्र का सामाजिक, सांस्कृतिक, परिवेश उसके संवादों में उभर कर उसके व्यक्तित्व को स्पष्ट करता हैं ।

तुलनात्मक दृष्टि --

समान स्तर एवं महत्व के दो परस्पर विरोधी चरित्रों को तुलनात्मक आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है, कि एक पात्र के चरित्र की तुलना में दूसरे के चरित्र का सहज अनुमान लगाया जा सके । साधारणतया सत्, असत् प्रवृत्तियों-वाले ऐसे पात्र तुलना में रखे जाते हैं, जो विरोधी भावों, विचारों, आदर्शों एवं मान्यताओं का प्रकटीकरण करते हैं । इन परस्पर विरोधी पात्रों का समान रूप से शक्तिशाली होना परम आवश्यक हैं, जिसके अभाव से तुलनात्मक शैली असफल होती हैं ।

मनोवैज्ञानिक आधार --

मानसिक द्वंद्व

व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप उसके मानसिक संघर्ष के उन क्षणों में ही प्रकट होता है, जब उनकी वृति अन्तर्मुखी होती है। संघर्ष एवं अवरोध के इन क्षणों में ही व्यक्ति सद्-असद्, कर्तव्य, अकर्तव्य की दुविधामयी स्थिति में लिए हुए अपने क्रियात्मक निर्णय को शब्द अथवा क्रिया रूप में अभिव्यंजित करता है।

जीवन और जगत् के मूल्यों में असमानता तथा द्विधामयी वृत्ति के अभाव में ही अन्तर्द्वन्द्व का उदय होता है। पात्र की यह मानसिक स्थिति उसके आत्मबल एवं कल्पनाशक्ति को दृढ़ बनाकर व्यक्तित्व को भास्वर करती है।

मनोवैज्ञानिकता --

मनोविश्लेषकों के विचारानुसार व्यक्ति का अचेतन मन उसके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग होता है। अचेतन मन का विश्लेषण करते हुए पात्र की विविध मानसिक ग्रंथियों, आचार-व्यवहार एवं कथोपकथन आदि का कार्य-कारण सम्बन्ध ज्ञात करना मनोविश्लेषणात्मक शैली है।

अतीत स्मृति --

इस शैली द्वारा पात्र के अतीत का सम्बन्ध उसके वर्तमान व्यवहार एवं आचरण से स्थापित किया जाता है। यहाँ उपन्यास की तरह अतीत स्मृतियों का विश्लेषण नहीं होता वरन् अतीत की स्मृती दिलाकर पात्र के चरित्र की ओर संकेत मात्र किया जाता है। अचेतन मन से केवल नाटकीय प्रयोजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण वे ही घटनाएँ चेतन मन में उभरती हैं जो पात्र के जीवन दर्शन के अनुरूप होती हैं। जो घटनाएँ सर्वप्रथम उसके स्मृति-पटल पर उभरती हैं, उनका पात्र के चरित्र से गहरा सम्बन्ध होता है, अन्य घटनाएँ क्रमानुसार कम महत्वपूर्ण होती हैं।

निराधार प्रत्यक्षीकरण (हेल्यूसिनेशन) -- Hallucination

स्वप्न में व्यक्ति निराधार वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण सोते हुए करता है। परन्तु जब वह यह प्रत्यक्षीकरण जागते हुए करता है, तब हेल्यूसिनेशन कहलाता है।

हेल्यूसिनेशन की प्रारम्भिक अवस्था में दृष्टि और ध्वनि का प्रत्यक्षीकरण एक भ्रम रूप में त्याग दिया जाता है। लेकिन मन की बढ़ती हुई विक्षिप्तता अचेतन के संघर्ष को जटिल कर देती है। इससे भ्रम सत्य में परिवर्तित हो जाता है। और पात्र कान बन्द करने पर भी अनेक ध्वनियाँ सुनता है, आँख बंद करने पर भी बहुत कुछ देखता है। पात्र द्वारा इससे दूर भागने का प्रयास असफल रहता है।

स्वप्न विघटन --

स्वप्न विघटन द्वारा पात्र के अचेतन मन के भावों को चेतन स्तर पर लाकर उसकी अतृप्त इच्छाओं की ओर संकेत किया जाता है। पात्र की ये अतृप्त इच्छाएँ उसके चरित्र पर प्रकाश डालती हैं।

मुक्त आसंग प्रणाली --

इस शैली द्वारा चरित्र-चित्रण में दो पात्रों की आवश्यकता होती है। एक पात्र मनोविश्लेषक का कार्य करता है, जो दूसरे पात्र का विश्वासपात्र होता है और जो उस पात्र के अचेतन मन को छूकर इस योग्य बनाता है कि अपने हृदय को खोलता चला जाए। यदि कहनेवाला पात्र रुक जाता है कि पहला पात्र कोई ऐसा प्रश्न कर लेता है कि उस पात्र का कहना पुनः शुरू हो जाता है। इस प्रकार से पात्र का अचेतन मन सामने आ जाता है और पात्र के व्यवहारों का कारण ज्ञात हो जाता है।

स्थिर एवं गतिशील चरित्र --

नाटक में सभी पात्र समान रूप से प्रभावोत्पादन करने में पूर्ण रूप से कृतकार्य नहीं हो पाते इसीलिए अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें स्थिर और गतिशील व्यक्ति चरित्र दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। चरित्र स्थैर्य के कारण भावनागत उतार और जीवन के विविध घटना-प्रसंगों के घात-प्रतिघात से सर्वथा मुक्त, जो पात्र समान रूप से सद् अथवा असद् बने रहते हैं, उन्हें स्थिर अथवा गतिशील चरित्र कहते हैं।

मन की विविध अन्तर्यातनाओं के बौद्धिक समाधान खोजने के प्रति दर्शकों की प्रवृत्ति देखकर आज के नाटककार का ध्यान व्यक्ति-वैचित्र्य के प्रतिपादन की ओर

गया है । विभिन्न परिस्थितियों में चरित्र के आचार विचार एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं में व्यक्तित्व निर्माण को संगृहीत कर, वह चरित्र को शुध्द मानवीय धरातल पर अंकित करता है । वह क्रियाशील पात्रों में परिस्थितिवश होनेवाले परिवर्तनों को घटनाचक्र में इस प्रकार उपस्थित करता है, कि उनकी स्वाभाविकता किसी प्रकार भी बाधित न हो ।

वितस्ता की लहरें में चरित्र-चित्रण --

' वितस्ता की लहरें ' नाटक चरित्रप्रधान नाटक है । नाटक के सभी चरित्र अपने परिवेश में पूर्ण हैं । महाराज पुरु का चरित्र नायक के रूप में सामने आता है । पुरु और विष्णुगुप्त आदि विशेष रूप से उल्लेख्य चरित्र हैं । ये प्रतिनिधि चरित्र सामाजिक नाटकों के मुख्य चरित्रों के समान न होकर भारतीय नाट्य परम्परा के धीरोदात्त कोटि के पात्र हैं । ये धीर, वीर, उदात, संयमी, प्रशान्त , मनस्वी तथा दया-क्षमा के आगार होने के साथ उच्चकुल का प्रतिनिधित्व भी करते हैं । इन आदर्श चरित्रों की सबसे बडी विशेषता यह है, कि इनमें अधिकांश चरित्र भारतीय संस्कृति के उदात गुणों से परिपूर्ण होते हुए भी यथार्थ मानवीय एवं बौद्धिक हैं । इन चरित्रों में मिश्र जी का यथार्थवादी दृष्टिकोण और बुध्दि सक्रियता भली प्रकार प्रकट हुई है । इसमें पुरुष का आभूषण पुरुषार्थ या पौरुष एवं वीरत्व है ।

आदर्श स्त्री चरित्रों में रोहिणी तथा तारा उल्लेखनीय हैं । ये चरित्र कई सद्गुणों से सम्पन्न हैं । इनमें त्याग, निर्भीकता एवं चरित्र की दृढता आदि गुणों का आधिक्य है । तारा का चरित्र भी प्रखर है । इसके चरित्र में विवेक, वीरता तथा चरित्र की दृढता आदि गुणों का अच्छा समावेश हुआ है । रोहिणी तथा रजनी में आदर्श पतिव्रता नारी तथा विवेकी सपत्नि का रूप चित्रित करने का प्रयास किया गया है ।

यथार्थ पुरुष चरित्रों के अन्तर्गत अलिकसुन्दर और आम्भी आदि पात्रों का उल्लेख किया जा सकता है । अलिकसुन्दर नृशंस, महत्वकांक्षी एवं नारी मोह में फँसा एक साधारण मानव है । यद्यपि यह पात्र केवल अन्तिम दृश्य में ही रंगमंच पर उपस्थित होता है ।

इस प्रकार 'वितस्ता की लहरें' नाटक में पात्रों का दो पक्षों में विभाजन हो गया है। और इसी के फलस्वरूप चरित्र-चित्रण में भी मानो शत्रु पक्ष और मित्र पक्ष का भाव आ गया है। इस नाटक के सभी प्रमुख पात्र 'स्थिर' कोटि के हैं। शत्रुपक्ष के सभी पात्रों को दुर्बल और निरीह दिखाया गया है तथा पुरुपक्ष के सभी पात्र गुणों से सम्पन्न हैं। अब हम प्रत्येक पात्र के चरित्र पर प्रकाश डाले।

१) विष्णुगुप्त --

विष्णुगुप्त 'वितस्ता की लहरें' का नायक न होते हुए भी कथानक का सूत्रधार है। अभी वह ३५ वर्ष का युवक है। तक्षशिला विद्यालय में आचार्य रह चुका है। अलिकसुन्दर का सामना करने के प्रस्ताव पर ही विद्यापीठ के कपाट बन्द हुए थे। उसने विद्यापीठ के सैकडों छात्रों को अलिकसुन्दर के आक्रमण का अनेक प्रकार से प्रतिकार करने के लिए संगठित किया तथा उनके माध्यम से सारी जनता में भी जागृति पैदा की। विष्णुगुप्त भारत की कल्पना उसके छोटे छोटे टुकडों के रूप में नहीं करता, उसकी भावना सम्पूर्ण भारत को एक विशाल राष्ट्र के रूप में देखती है और उसी विशाल राष्ट्र की स्थापना के लिए वह प्रयत्नशील है।

आचार्य विष्णुगुप्त के चरित्र में दूरदर्शीता एवं कूट नीति का पूरा समावेश है। वह अलिकसुन्दर को विश्वास देता है कि, महाराज पुरु बिना युध्द के वितस्ता पार करने देंगे और बदले में अलिकसुन्दर वितस्ता और यमुना के बीच की भूमि देने को तैयार हो जाना है। अपनी योजना बताते हुए वह कहता है कि, 'जब वह (अलिकसुन्दर) गंगा पार कर पूर्व की ओर बढे, उसी समय इधर हम सिन्धु का मार्ग उसके लिए रोक दे। पश्चिम की सहायता उसको न पहुँच पाये। जाल में पडी मछली की तरह वह अन्तर्वेदी में घिर जाएगा। फिर हम उस जाल को समेटते जाएँगे ... बटोरते जाएँगे ....।' (पृ.७२)

वितस्ता की लहरें - लक्ष्मीनारायण मिश्र - पृ.क्र.७२।

SHIVAJI UNIVERSITY LIBRARY KOLHAPUR

जब अलिकसुन्दर रात में छल से वितस्ता पार कर लेता है, तब विष्णुगुप्त की योजनानुसार उसके शिष्य अलिकसुन्दर की प्रेयसी ताया का हरण कर लेते हैं। वह कूटनीति से ताया से अलिकसुन्दर के लिए इस आशय का पत्र लिखवाकर लेता है, कि यदि वह युद्ध बन्द नहीं करेगा, तो वह आत्महत्या कर लेगी। इसप्रकार अलिकसुन्दर युद्ध बन्द करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार विष्णुगुप्त की योजना तथा कूटनीति के परिणामस्वरूप ही अलिकसुन्दर की पराजय होती है।

अपने बुद्धि चातुर्य से जगत् विजय के महत्वाकांक्षी अलिकसुन्दर को विजय द्वार से विमुख लौटा देने वाले कूटनीतिज्ञ के रूप में विष्णुगुप्त का चरित्र अंकित किया है। विष्णुगुप्त साधन की अपेक्षा साध्य पर बल देते हैं। पारस्परिक वैमनस्य एवं क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त विशाल भारत की अपनी परिकल्पना बताते हुए वे कहते हैं -- "मेरा दायित्व देश और देश के सामने है। गान्धार, अभिसार, केकय, कठ, सौभूति, सौवीर और अनेक ऐसे जनपदों के रूप में नहीं सोचता मैं। मेरी भावना में उस विशाल भारत की मूर्ति है जिसके चरण समुद्र धो रहा है, हिमालय जिसका किरीट है, विन्ध्य जिसकी मेखला है, पूर्व और पश्चिम के समुद्र-तट जिस की भुजाएँ हैं। मेरे आचरण में तुम सन्देह करो। जिस दिन यह सारा देश राष्ट्र-शरीर का रूप ले लेगा उस दिन ...." (पृ. ७१)

इस प्रकार विष्णुगुप्त के मन में देशभक्ति रोम रोम में भरी हुई है। अपने कार्य के सुनियोजित और व्यवस्थित प्रारूप के कारण ही विष्णुगुप्त दो भिन्न संस्कृतियों के सूत्रधार के दुर्वह्य भार को वहन करने में सफल हो सके हैं।

महाराज पुरु --

ऐसे हैं पुरु, " वितस्ता की लहरें " नाटक का नायक है। पुरु के चरित्र में नाट्यशास्त्र के नायक के सभी गुण वर्तमान हैं। वह अलिकसुन्दर का सामना करने के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगाने के लिए तैयार है। विष्णुगुप्त की तरह वे

" वितस्ता की लहरें " - लक्ष्मीनारायण मिश्र - पृ. ७१।

कूटनीतिज्ञ नहीं। विष्णुगुप्त के आचरण पर उन्हें शंका होती है, किन्तु फिर विष्णुगुप्त के उद्देश्य की उच्चता तथा उनके आदर्श चरित्र का विचार करके अलिकसुन्दर से अकेले में मिलने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं और द्वंद्व युध्द के निर्णय पर सिकन्दर को मार्ग देना स्वीकार कर लेते हैं। जब अलिकसुन्दर रात में छल से वितस्ता पार कर लेता है, तब वे युध्द में कूद पडते हैं। युध्द में पुरु का कालनेमी हाथी अलिकसुन्दर को अपने सूँड में पकड लेता है, परन्तु ज्योंहि हाथी उसे पटकना चाहता है वे उसको ऊपर ही पकड लेते हैं। अलिकसुन्दर उनकी कृतज्ञता के बोझ से दब जाता है और कहता है --`मुझे अब आपसे युध्द नहीं करना है। पहला जन्म किसी पिता ने दिया था, यह दूसरा जन्म आपने दिया है। इस देश के किसी भी जन के लिए आप राजा हैं मेरे लिए भी वही रहे। (पृ.११९) इस प्रकार महाराज पुरु का मन पितृ-भावना से ओतप्रोत भरा हुआ है, इसीकारण वह दायरबहू की कन्याओं को भी पिता का प्रेम देता है। महाराज पुरु का चरित्र भव्य तथा गरिमामय रूप में चित्रित किया गया है।

महाराज पुरु को कर्तव्यपरायण, निर्भीक, साहसी राजा के रूप में चित्रित किया गया है। नाटक में पुरु के चरित्र पर गांधीवाद का प्रभाव है। वह रक्तपात और शस्त्र से अधिक उपयोगी दया और शील को बताते हुए कहते हैं --`शस्त्र से जो सम्भव नहीं उससे कहीं अधिक दया और शील से सम्भावित है।`(पृ.११५) उनके मत से`हमें युध्द करते हैं कर्मभाव से, शत्रुभाव वहाँ भी नहीं होता।(पृ.११२) उनके लिए तो स्नेह का द्वार सबके लिए समान रूप से खुला है। उनका कथन है कि,`शत्रु के पुत्र को भी हम बराबर अपने पुत्र का स्नेह देते आये हैं।`(पृ.४४) इस प्रकार महाराज पुरु शत्रु के प्रति भी आदर से देखते हैं। वे विष्णुगुप्त से कहते हैं,`मृत्यु से डरनेवाला हर दिन और हर रात सौ बार मरता है और जो नहीं डरता वह मरकर भी अमर रहता है।` (पृ.६०) पुरु के इस कथन से उनके वीर चरित्र का उद्घाटन होता है।

भारतीय संस्कृति के सद्गुणों के व्याख्याता स्वरूप नाटककार ने पुरु के चरित्र की संयोजना की है। वे उदारता एवं क्षमा निर्भय वीर के आभूषण हैं। यवन सेना की उत्तरोत्तर बढती शक्ति में व्यवधान हेतु वे हर सम्भव प्रयत्न करते हैं।

इस महत् अनुष्ठान की पूर्ति में उन्हें मृत्यु का भी भय नहीं है। अतिथि-सत्कार, वीरोचित उदारता एवं नारी सम्मान पुरु चरित्र को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। अलिकसुन्दर के प्राणों की रक्षा के औचित्यपर उनका कथन है - 'तुम्हारा प्राण अपने लिए मैंने बचाया। रुद्रदत्त या भद्रबाहु में मेरा जो आकर्षण है, कालनेमि की सूँड में तुम्हें विवश देखकर मेरे भीतर वही उमँग उठा। तुम्हें बचाकर मैंने अपने पुत्र की रक्षा की ... मेरी दया नहीं थी यह विजयी। मेरी विवशता थी। अपने पुत्र के जीवन की कामना मेरी तभी होगी, जब मैं उसकी अवस्था के किसी भी तरुण के जीवन की कामना करूँ।' (पृ.११२)

इस प्रकार पुरु का चरित्र भारतीय आदर्श एवं क्षत्रियोचित गुणों के आदर्श रूप में अंकित हुआ है।

अलिकसुन्दर --

मिश्र जी के 'वितस्ता की लहरें' नाटक में अलिकसुन्दर की वीरता अपनी सुन्दरता तो खो चुकी है। इस नाटक का अलिकसुन्दर केवल छल-छदम जानता है, उसमें युध्द का उत्साह नाम को भी नहीं दिखाई देता। नाटक में वह तीसरे अंक में मंच पर आता है। पुरु के सेना की वीरता देखकर उसका उत्साह समाप्त हो चुका है। वह आम्भी से कहता है, 'पुरु से आपका बैर न लेना होता तो मेरे सैनिक इस पार आने में सौ बार सोचते।'

जब अलिकसुन्दर कथन भी करके अँधेरी रात में वितस्ता पार कर लेता है, किन्तु वहाँ भी पुरु के साथ घमासान युध्द होता है। महाराज पुरु का कालनेमी हाथी जब उसको अपनी सूँड में उठाकर पटकना चाहता है, तब पुरु उसकी रक्षा करते हैं, उस समय वह कृतज्ञता से दब जाता है। वह पुरु से कहता है -- 'पहला जन्म किसी पिता ने दिया था। यह दूसरा जन्म आपने दिया है। (पृ.क्र.११९)

ताया से उसका विशेष अनुराग है। वह अपनी प्रेरणा ताया को ही समझ लेता है। जब तक्षशिला के युवक ताया का हरण करते हैं, तब वह विचलित होता है। ताया का पत्र पढकर तुरन्त ही वह युध्द बन्द कर देता है। स्वयं कहता

है -- उसी के कहने पर मेरी यह विजय यात्रा थी, अब उसी के आदेश से इसका अन्त हो। वह अपने विजय को अहं की संज्ञा देते हुये कहता है -- `यह विजय मेरी नहीं, मेरे भीतर के उस अहंकार की, उस दानव की रही है, जिसके सुख के लिए मैं यहाँ तक पहुँच गया।` (पृ.११०) उसका विश्वास है, कि भारतीयों के शास्त्र मंत्रबल से चलते हैं। अन्त में उसको अपने कर्तव्य पर घोर पश्चाताप होता है। उसके मन में यह भावना बैठ जाती है, कि भारत अजेय है। वह पुरु से कहता है -- `इस देश के किसी भी जन के लिए आप राजा हैं .... मेरे लिए भी वही रहे।` (पृ.११९)

इस प्रकार इस नाटक में मिश्र जी ने अनेक उध्दरणों से यह स्पष्ट किया है, उसका व्यक्तित्व दुर्बल है, वह अपने चलाए नहीं चलता, दूसरों के चलाए चलता है। उसमें तीव्र इच्छाशक्ति नहीं है फिर भी वह विश्व-विजय करने निकला यह वास्तव आश्चर्य की बात है। वह विध्वंसक भी है।

रुद्रदत्त --

रुद्रदत्त केकय नरेश पुरु का पुत्र है, वह वीर साहसी तथा निर्भीक है। छल-छद्म से यह भी परिचित नहीं। वह सीधी-सादी स्पष्ट भाषा में बातें करता है। अपनी पत्नी रोहिणी के प्रति उसके हृदय में स्वाभाविक प्रेम है, परन्तु विष्णुगुप्त तथा रोहिणी के आग्रह पर पारस नरेश दायरवहु की कन्या रजनी को भी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेता है। वीरता में वह अद्वितीय है। उसने एक साथ सात यवन सेनापतियों को युध्द में मार कर अलिकसुन्दर को व्याकुल कर दिया। वह कूटनीति में निपुण नहीं है।

इस प्रकार पुरुपक्ष के पात्रों में भद्रबाहु तक्षशिला नरेश आम्भि, आर्यगुप्त, सिल्यूकस, टिथौनस, अइक्कार्ग सिल्यूकस इडुभीब आदि आते हैं।

रोहिणी --

केकय नरेश पुरु की पुत्रवधू रोहिणी युवराज रुद्रदत की धर्मपत्नी है। पति-परायणता, शरणागत वत्सलता, धैर्य एवं त्याग और राजनीतिक जागरुकता

BARR. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY
SHIVAJI UNIVERSITY, KOLHAPUR.

आदि गुणों से युक्त रोहिणी में वीरता तथा निर्भीकता दृष्टिगोचर होती है। पति के प्रति उसके मन हृदय में अगाध प्रेम है। वितस्ता के घाट से शरणार्थियों को लेने गए युवराज रुद्रदत्त जब सायंकाल तक भी नहीं लौटे, तो वह एकाकी ही अश्व पर चढ़कर घाट पर जाने को तैयार होती है। सारा दिन निराहार रहकर भी उसमें किसी प्रकार की शिथिलता नहीं है। वह पति के प्रेम-बन्धन में बंधी है। उन्हें भोजन कराये बिना वह आहार करना अनुचित समझती है। प्रेम-बन्धन की इस भारतीय विशिष्टता का उल्लेख करते हुए वह वसन्तसेना से कहती है -- 'इस भूमि से बन्धन के अंकुर फूटते है, पति के प्रति, पुत्र के प्रति, जन-जन के प्रति, पशु-पक्षी, वृक्ष के प्रति। (पृ. २४)

देश की प्रतिक्षण बदलती हुई स्थिति पर उसकी दृष्टि लगी हुई है। देश की स्वाधीनता को बेचनेवालों का वह स्वागत नहीं करती। आम्भी के विषय में अपने प्रहरी से उसका कथन है -- 'देश की स्वाधीनता को बेचने वाला अपनी राज्य-लक्ष्मी को नंगी करने वाला आम्भी अब महाराज नहीं है प्रहरी। इस शब्द से उसका सम्बोधन न करना।' (पृ. २५) मानवता का रक्त बहानेवाला, रमणियोंका रमणीत्व हरण करनेवाले अलिकसुन्दर को वह दैत्य समझती है।

पारस नरेश दायरबहू की दो कन्याओं रजनी और तारा को शरण देने का प्रस्ताव जब आचार्य विष्णुगुप्त उसके समक्ष रखते है तब वह उसे सहज स्वीकार करती है और कहती है -- 'सखी का स्नेह .. बड़ी बहन का स्नेह मैं इन्हें दे सकूँगी। पति को भी वह यही आश्वासन देती है कि मैं इन्हें अपनी पलकों में रखूँगी।' (पृ. ३३)[1] इस प्रकार वह बहन बनकर आर्यपुत्र के स्नेह में उन्हें भाग देती है। वह पति के सुख को ही अपना सुख समझती है। इतना ही नहीं प्रणय के क्षेत्र में भी उसकी उदारता सराहनीय है। कोई भी नारी सपत्नि नहीं चाहती। परन्तु रोहिणी रजनी का पति की ओर आकृष्ट होना भी स्वाभाविक समझती है। उसका कहना है, कि 'शरद का चन्द्रमा कौन नहीं देखता और वसन्त की वायु किसे प्रिय नहीं लगती?' (पृ. ५४) वह रजनी को पति की आरती करने का और आर्यपुत्र कहने का आग्रह कर

---

१ वितस्ता की लहरें -- लक्ष्मीनारायण मिश्र - पृ.क्र. ३१, ३३।

अपनी उदारता प्रकट करती हैं ।

आचार्य विष्णुगुप्त जब पुरु की पुत्रवधू से देश के लिए त्याग की भिक्षा माँगते हैं तब वह धैर्यपूर्वक उत्तर देते हुए कहती हैं --' आर्यपुत्र के रथ पर उनके बायें बैठकर मैं युध्द करूँगी । पत्नी सब कहीं पति की छाया है, यहाँ भी रहेगी । मृत्यू से डरना हमनें नहीं सीखा । जब युवराज रूद्रदत्त वितस्ता के युध्द में घायल होते हैं, तब वह पति-सेवा में लीन रहती हैं ।

तारा के अनुसार रोहिणी के शब्दों में अमृत हैं और आँखों में शील और व्यवहार में विनय हैं । अश्वकर्ण भी स्पष्ट रूपसे कहता है, रोहिणी देवी सम्पूर्ण मंडल की माता हैं । इसप्रकार रोहिणी में सर्वत्र पतिपरायणता, उदार भारतीय रमणी का रूप दिखाई देता है । नाटककार ने रोहिणी का चरित्र सहृदयता से किया है ।

<u>रजनी और तारा --</u>

रजनी और तारा पारस नरेश दारयवहु की दो पत्नियों से एक ही मास में उत्पन्न दो पुत्रियाँ हैं । दोनों एक ही साँचे में ढली दो पुतलियों के समान हैं । पारसपुर के समृध्द राज्य के नष्ट हो जाने से केवल नरेश पुरु की शरणागत हैं । विधाता ने उन्हें अपार रूप दिया है । दोनों का रंग सोने की धूल जैसा है । उनके बारे में विष्णुगुप्त बताते हैं कि' पारस नरेश दारयवहु की इन कन्याओं ने सुख के वे दिन देखे हैं, जिनकी कल्पना केवल स्वर्ग में सम्भव होगी । दु:ख भी जो ये देख चुकी हैं उसके सामने नरक भी लजा जायगा ।' (पृ. २८) इस कथन से उनके सुखी जीवन की कल्पना आ जाती है। दोनों अपने दुर्भाग्य पर रूदन करती हैं । अपना क्षोभ प्रकट करते हुये तारा कहती हैं --' हमारा अभाग्य अभी हमारे साथ लगा है । और सब चला गया, जन धरती सब ... पारसपुर के राजभवन में सोने और रत्नों की जो राशि थी, इन आँखों के सामने लूट ली गई । यवनों ने राजभवन की देवियों को भेड़-बकरियों की तरह घेरकर उपवन के एक कोने में राजभवन के दक्षिन खडी कर दिया '... (पृ. ४७) अपने दु:ख से बढकर वे बड़ी बहन आर्तकामा के दु:ख से दुखी हैं । तालेमी ने उसका अपहरण किया है । वे सोचती हैं कि न जाने वह कैसे कष्ट भोग रही है । भाग कर से दु:ख से पिण्ड नहीं छूटेगा । जहाँ भी वे रहेंगी, वहाँ

विनाश लीला होगी। वह स्वयं को पारसीक विभव की कालरात्रि समझती है। महाराज पुरु से तारा कहती है -- `आप कृपा कर हमें बेटी न कहें। नहीं तो इस धरती की भी वही गति होगी जो पारस की हुई। हमारा अभाग्य यहाँ भी हमारे साथ है।` (पृ.४७)

महाराज पुरु के पितृ-तुल्य स्नेह और राजवधू रोहिणी के भगिनी तुल्य प्रेम को प्राप्त कर दोनों की पीडा शान्त हो जाती है। दोनों के जीवन में एक नया वसन्त आ जाता है। रजनी कुमार रुद्रदत्त की आराधिका बनती है। वह रुद्रदत्त के रेखाचित्र में ही अपना प्रतिबिम्ब देखती है। रजनी स्फटिक शिला पर युवराज रुद्रदत्त के चित्र बनाने लगती है। एक दिन उसकी यह चोरी पकडी जाती है। वह रोहिणी के समक्ष स्वीकार कर लेती है -- `मेरे अपने हृदय की आसक्ति आर्यपुत्र की आँखों में झाँक रही है।` उदार रोहिणी उसे सहर्ष सपत्नि रूप में स्वीकार कर लेती है।

तारा भद्रबाहु से प्यार करती है। वह भद्रबाहु से युध्द भूमि में ले जाने का आग्रह करती है। पुरुष वेश में वह भद्रबाहु के साथ युध्द भूमि में जाती है। सुन्दरी तारा को लेने जाते समय वह `ज्योतिशिखा सी .... अरुण के आगे उषा की तरह भद्रबाहु का पथ-प्रदर्शन करती है।

नाटककार ने दोनों का चरित्र साथ साथ किया है। दोनों के चरित्र में पर्याप्त साम्य है। रजनी तारा की अपेक्षा अधिक भावुक दिखाई देती है और तारा उसकी अपेक्षा अधिक धैर्यशील। रजनी में सौंदर्य, सेवा, और त्याग तथा तारा में सौंदर्य, स्नेह और शक्ति का त्रिवेणी संगम दिखाई देता है।

तायी --

तायी अलिकसुंदर की प्रेयसी और प्रेरणा है। अलिकसुन्दर के शब्दों में उस रूप का जोड धरती पर दूसरा नहीं है। उसे अपने वक्ष से लगाकर अलिकसुन्दर स्वयं को जीयस और अपोलो से कम नहीं समझता। उसके हरण से वह बहुत ही चिन्तित हो उठता है। उसका संसार सूना हो जाता है। निराश होकर वह कहता है -- `तायी के न रहने पर समूचा जगत जीतकर भी मैं क्या करूँगा? (पृ.९९) तायी के

१ वितस्ता की लहरें - लक्ष्मीनारायण मिश्र - पृ.क्र.९९

बिना अलिकसुन्दर को जीना दूभर हो जाता है। आचार्य विष्णुगुप्त से ताया का पत्र पाते ही उसके दर्शन को आतुर हो जाता है। उसके संदेश मात्र से विजय यात्रा समाप्त करने की घोषणा करता है। ताया के अपहरण पर अलिकसुन्दर शोक प्रकट करता है, तब ताया कहती है --`इस देश के निवासी पराई स्त्री को माता मानते हैं। मेरी आँखों में सीधे किसी ने देखा तक नहीं।` (पृ.११७)

विलासिनी ताया भारतीय नारियों के सम्पर्क में आकर शत्रु के प्रति दया और नारी के प्रति आदर भाव का महत्त्व समझ लेती है। उसका कथन है`लोगों को जीतकर दास बनाने की प्रथा यहाँ नहीं है। इनके धर्म का संस्कार यहाँ युध्द में होता है।` (पृ.११७) ताया भारतीय नारी को आदर और पवित्रता की दृष्टि से देखती है। इस सन्दर्भ में वह कहती है --`पति से बडा देवता इनका कोई नहीं होता। दूसरे पुरुष के संसर्ग से बडा पाप भी इनके लिए कोई दूसरा नहीं है।` (पृ.११९) इस प्रकार भारतीय नारी का उसने गौरव किया है। उसका हरण होकर भी उसे माता का सम्मान मिला है। किसी ने उस पर कुदृष्टि नहीं डाली है। इसी से उसका हृदय परिवर्तित हो गया है। वह घायल रुद्रदत्त की सेवा करती है।

ताया एक अद्वितीय सुन्दरी है। अलिकसुन्दर उसके हाथ की कठपुतली मात्र है। वह अलिकसुन्दर की आँख की ज्योति है। वह विलासिनी होकर भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित होकर कहती है कि`मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो।` (पृ.१३५) ताया के इस वाक्य से सबका मनोमालिन्य वितस्ता के लहरों में लुप्त हो जाता है।

वसन्तसेना --

वसन्तसेना महाराज पुरु के राजप्रसाद की प्रधान प्रतिहारी है। वह राजवधू रोहिणी की परिचारिका भी है। मिश्र जी के अन्य नाटकों में चित्रित प्रतिहारियों की भाँति वह भी वाक्पटु और हाव-भाव प्रदर्शन की कला में प्रवीण है। वह वाचाल कुछ अधिक है। जब रोहिणी युवराज रुद्रदत्त की खोज में जाने को तैयार होती है, तब वह भी रोहिणी के साथ जाने को तैयार होती है। पुरुषों के साथ हास-परिहास और विनोद करना उसके लिए स्वाभाविक है। उसके चरित्र-चित्रण में कोई

खास नवीनता नहीं है।

इस प्रकार 'वितस्ता की लहरें' नाटक में पुरुष पात्रों में धीर, वीर, उदात्त, संयमी, बुद्धिचातुर्य, प्रशान्त, मनस्वी, दया क्षमा के आगार, पुरुषार्थ, महत्वाकांक्षी, कूटनीतिज्ञता, नृशंसता, दूरदर्शिता, कर्तव्यपरायणता, साहस, निर्भीकता, उदारता, क्षात्रियोचित विवेक एवं देशभक्ति आदि गुण, हैं, तो स्त्री पात्रों में त्याग, निर्भीकता, पतिव्रता, पवित्रता, वीरता, वत्सलता, धैर्य आदि गुण दिखाई देते हैं। इस प्रकार चरित्र चित्रण की दृष्टि से 'वितस्ता की लहरें' नाटक सफल नाटक हैं।

कथोपकथन --

नाटक में कथोपकथन सशक्त नाटकीय तत्त्व हैं। सामान्यत: नाटक के अंतर्गत उपलब्ध दो अथवा दो से अधिक पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप को ही कथोपकथन कहते हैं। दशरूपककार ने इन्हें वस्तु का नाट्य धर्म और साहित्यदर्पणकार ने इन्हें नाट्योक्ति की संज्ञा दी हैं। पात्रों के शील एवं चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए इसके कथोपकथन से बढ़कर और कोई दूसरा साधन ही नहीं - कथावस्तु का विकास और पात्र के चरित्र का चित्रण दोनों ही बातें एक साथ कथोपकथन के द्वारा ही सम्पादित होती हैं। यही कारण हैं, कि कथोपकथन प्रसंगानुकूल सरल, स्वाभाविक, संक्षिप्त, पात्रानुकूल, कथावस्तु और कार्य को प्रगति प्रदान करने वाले तथा पात्रों के चरित्रों को स्पष्ट करने वाले होते हैं।

कथोपकथन की प्रमुख विशेषताएँ --

कथोपकथन की सफलता के लिए आधुनिक विद्वानोंने जिन पाँच प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट किया हैं वे इस प्रकार हैं ---

१) कथोपकथन को पात्रों की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।

२) कथोपकथन की भाषा में जटिल एवं दार्शनिक विषयों की विवेचना का प्रयत्न नहीं होना चाहिए। लोकरंजक भाषा ही उनके लिए सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं।

3) कथावस्तु के विस्तार एवं चरित्र विकास के अनुपात में ही कथोपकथन की संघटना उपयोगी होती है ।

4) कथोपकथन अधिक लम्बे न हो, केवल उतने ही हो जितने कि उस स्थिति में आवश्यक अनिवार्य और स्वाभाविक कहे जा सकें ।

5) कथोपकथन की संघटना इस प्रकार की होनी चाहिए, कि वे विभिन्न पात्रों के कोरे वक्तृत्व जैसे न अनुभव हो, वरन् उनमें समान स्तर के उत्तर प्रत्युत्तरों की एक विशेष चुस्ती या कसावट का आभास मिलता है ।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त कथोपकथन की घटना में कभी-कभी अभिनयात्मक स्फूर्ति के समावेश के लिए संवादकार को कतिपय नाट्य परिस्थितियों को भी स्वीकार करना पडता है और उसके लिए यथावसार अपने पात्रों में अंगान्दोलन आदि की भी उचित व्यवस्था करनी पडती है ।

कथोपकथन की व्यापकता - बातचीत एवं कथोपकथन में अंतर --

दो या दो से अधिक पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप ही कथोपकथन है । वार्तालाप के दो प्रकार हो सकते हैं -- सामान्य बातचीत के रूप में तथा विशिष्ट कथपोकथनों या उत्तर-प्रत्युत्तर की कसावट के रूप में । 'कथोपकथन' के शद्ब के व्यापक अर्थ के भीतर साधारण बातचीत से लेकर उतर प्रत्युतर के रूप में दूर तक चलनेवाली उक्तियाँ तक आ सकती हैं । फिर भी बातचीत एवं कथोपकथन में थोडा अंतर है । बातचीत किसी प्रसंग के भीतर ही अपना महत्त्व प्रदर्शित करती है । किन्तु कथोपकथन स्वतंत्र रूप से ही अपना महत्त्व प्रदर्शित करता है । बातचीत में जो उतर प्रत्युतर आते हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं होती, किन्तु संवाद से आनेवाले उतर - प्रत्युतर बहुत सधे हुए और परस्पर काट करते आते हैं ।

कथोपकथन : विविध रूप --

संस्कृत के आचार्यों ने कथोपकथन का विवेचन नेता के सन्दर्भ में किया है । आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में कथोपकथन के विविध कथोपकथनों के प्रारूपों

का यथास्थान उल्लेख किया है। उनके मतानुसार कथोपकथन चार प्रकार के होते हैं --

१) आकाश भाषित

२) जनांतिक

३) अपवारित

४) आत्मगत।

धनंजय ने अपने दशरूपक में उक्त भेदों को ही प्रकारान्तर के रूप में अभिस्वीकृत किया है ---

अ) आकाश भाषित

ब) सर्वश्राव्य

क) अश्राव्य या स्वगत

ड) नियत श्राव्य।

नियत श्राव्य के दो भेद किये गए हैं ---

जनांतिक और अपवारित।

सर्वश्राव्य : अश्राव्य --

` कथन सबके सुनने योग्य होता है, वहाँ कथोपकथन सर्वश्राव्य है। सर्वश्राव्य कथन के लिए नाटककार प्रायः किसी रंग संकेत का निर्देशन नहीं करता, किन्तु स्वगत कथन के उपरान्त सर्वश्राव्य कथोपकथन के लिए `प्रकट' या `प्रकाश' रंग संकेत का उल्लेख अवश्य किया जाता है। जहाँ पात्र बोल रहा है और कोई रंग-संकेत नहीं, कि यह `मन में' या `आप ही आप' है वहाँ सर्वश्राव्य कथन है। अश्राव्य का प्रयोग प्रायः स्वगत कथन और एकांत भाषण के रूप में उपलब्ध होता है।

स्वगत कथन --

जब पात्र मंच पर अन्यान्य पात्रों की उपस्थिति में भी हृदयस्थ विचारों की गोपनीयता को प्रकट करता है, जिसे अन्य पात्र न सुन सकें, उस कथन को स्वगत कथन कहा जाता है। स्वगत कथन के लिए नाटककार द्वारा रंग संकेत का निर्देश स्वतः स्वयं मन में आप ही आप, स्वतःशी आदि रहता है। पात्र दर्शकों की ओर, ऊपर की ओर या नीचे की ओर, मुख करके कुछ कहता है। दर्शक समझ लेगा कि यह अंश

पात्र का ` स्वगत कथन ` है । पात्र इस अंश को धीरे-धीरे, धीमे स्वर में बोलेगा भी ।

दीर्घ कथन --

दीर्घ कथनों की संयोजना रंगमंच की व्यवस्था की परिदृष्टि में रखकर ही की जाती है । विज्ञान-प्रदत नूतन रंगमचीय सुविधाओं के अभाव में नाटककार अपने अभिमान के स्पष्टीकरण के लिए ही दीर्घ-कथनों की संयोजना करता था । प्राय: दीर्घ कथनों में उपदेश राजनीतिक व्यंग्य,रसमय पंक्तियाँ, विशिष्ट विचार अथवा मान्यताओं का उल्लेख रहना था ।

आकाश भाषित --

आकाश भाषित में एक ही पात्र ऊपर मुख करके संवाद रूप में कथन करता है । स्वाभाविकता की रक्षार्थ वह बीच बीच में ` क्या कहा `` ऐ `, ` ऐसा क्यों हुआ ` आदि स्वयं उत्तरित प्रश्नों का कथन करता है ।

जीवन के यथार्थ चित्रांकन के लिए नाटककार पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते है । संवादों में स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित आदि के भेद-भाव को स्वाभाविकता की रक्षा के लिए रखा गया है ।

साहित्यिक संवाद --

साहित्यिक संवाद तीन प्रकार के मिलते है -

1) अलंकृत संवाद

2) भावात्मक संवाद

3) लाक्षणिक संवाद ।

नाटकों में कथोपकथन प्रयोजन --

नाटकों में रंग-संकेत की योजना नाटककार अभिनय की दृष्टि से करता है । वस्तुत: संवाद के माध्यम से ही नाटककार अपने अभिप्रेत को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । उपयोगिता की दृष्टि से नाटक में छ प्रकार के कथोपकथन हो सकते है ---

१) वस्तुजनक कथोपकथन

जिस कथोपकथन से कथावस्तु अग्रसर हो वह वस्तुजनक कथोपकथन है ।

२) पात्र सूचक कथोपकथन -

कथोपकथन द्वारा पात्रों पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रकार से प्रकाश पडता है । अतः ऐसे कथोपकथन पात्र सूचक कथोपकथन होते हैं ।

३) रस परक कथोपकथन --

जब कथोपकथन द्वारा रस की निझरिणी प्रवाहित की जाती है, तब वहाँ कथोपकथन रस परक होता है ।

४) दृश्य सूचक कथोपकथन -

जब पात्र कथन द्वारा किसी प्रासाद, ऋतु, सन्ध्या, वन, सरिता आदि का वर्णन करे अथवा अन्य दृश्य योजना की सूचना दे, तो वहाँ संवाद दृश्य सूचक है ।

५) विचार प्रकाशक कथोपकथन -

नाटककार पात्रों के माध्यम से भाव एवं विचार देता है । ऐसे कथोपकथन विचार-प्रकाशक है ।

६) देश-काल ज्ञापक कथोपकथन -

जब नाटककार कथोपकथन में तत्कालीन स्थिति भरता है, तब कथोपकथन देशकाल ज्ञापक कहलाता है ।

माध्यम की दृष्टि से कथोपकथन नाटक का आत्मा स्वीकार किया है । कथावस्तु तथा चारित्रिक सौष्ठव की समुचित अभिव्यक्ति का आधारभूत उपकरण होने के कारण प्रभावान्विति की दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है ।

' वितस्ता की लहरें ' में कथोपकथन --

' वितस्ता की लहरें ' ऐतिहासिक नाटक की कथोपकथन योजना की दृष्टि से अधिक सफल, निर्दोष, एवं कलात्मक बन पड़े हैं। इनके अधिकांश संवाद सरल स्वाभाविक, संक्षिप्त, सशक्त, परिष्कृत गढ़े हुये एवं प्रभावपूर्ण हैं। इनमें कार्य गतिप्रेरक संवादों की प्रचुरता है। इनसे न केवल आगे आनेवाली घटना की सूचना व आभास ही मिलता है। प्रत्युत इनके द्वारा पात्रों का चरित्रोद्घाटन बड़े ही सजीव एवं यथार्थ ढंग से हो जाता है। वास्तव में मिश्र जी ने पात्रों के कार्यव्यापार से भी अधिक संवादों के माध्यम से पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को प्रकट करने में अच्छा कौशल दिखाया है।

इस नाटक के कथोपकथन में नाटककार ने अधिक तर पात्रों एवं परिस्थितियों के अनुसार गम्भीरता, आवेग, ओज, हास्यविनोद और तर्कद्वारा सर्वथा उपयुक्त स्वाभाविक प्रभावोत्पादक एवं कलासम्पन्न बना दिया है।

उदा. गम्भीर संवाद --

' [illegible] की यह कथा हमारी भाषामें नहीं लिखी जायेगी। नींद में सोये अजगर पर जम्बूक ने दाँत मारा है। अजगर की नींद समय पर खुलेगी, तब यह घाव भर चुका होगा। अपने नाम के नगर जो यह बसाता चला आ रहा है, देश का विवेक उन नगरों को नहीं रहने देगा। यवन-विजय के एक एक चिन्ह इतने गहरे पाताल में गाड़े जायेंगे, कि भावी पीढ़ी को उनका पता भी न चलेगा। क्षत्रिय की असि का कलंक ब्राह्मण की लेखनी पर नहीं चढ़ेगा। ' (पृ. ४०)

इस प्रकार इस नाटक में मार्मिक एवं भावपूर्ण संवाद भी दिखाई देते हैं --

उदा. --

' रोहिणी -- ' वही दृष्टि का पहला रोम .. अनुराग का पहला स्पर्श,... जब इस धरती को छोड़कर कहीं चले जाने का मन होता है..., एकान्त में बैठकर जब लोग अनजाने किसी का चित्र बनाया करते हैं, किसी के कहीं चले जाने से जब आँखें सूनी जाती हैं ... कान सूने हो जाते हैं ... धरती आकाश सूने हो जाते हैं, कहीं कुछ शेष नहीं बचता। ' (पृ. ६०)

उपरोक्त उध्दरणों से स्पष्ट हो जाता है, कि संवादों में मनोवैज्ञानिकता का पूर्ण निर्वाह करने का प्रयास किया गया है। छोटे-छोटे वाक्य, जो कहीं कहीं अधूरे भी होते है, पात्रों की अन्त: प्रवृत्तियों के उद्‌घाटन एवं विश्लेषण में अत्यंत सहायक सिध्द होते हैं।

नाटक में सशक्त नाटकीय तत्व हैं। स्वगत कथन एवं लम्बे संवादों का सर्वथा बहिष्कार हैं। संवाद सरल, सरस एवं विचारक हैं। द्वितीय अंक में तारा और रजनी के संवादों में प्रेमी हृदयों एवं सहानुभूति संवलित हृदय पारखियों के संवाद बड़े ही प्रभावकारी बन पड़े हैं। कुमार स्कन्ददत्त के चले जाने पर तारा कहती है --

'इसीलिए तब.. रजनी का कामना को पंख लग गये हैं। आपकी ओर से भी इसे छूट मिल गई हैं। (पृ.५४)

रोहिणी - दु:ख का बोध जिसे जितना अधिक होता है, उसी मात्रा में स्नेह की चाह भी बढ़ती है। हम लोगों का दोष नहीं है बहन। हमारी प्रकृति का यही रूप हैं। (हँसकर) कहो, क्या तुम्हें नहीं रुचते वे ?

तारा - यह कैसे कहूँ ? उनके शब्दों में अमृत है, आँखों में शील और व्यवहार में विनय हैं। (पृ.५४)

नाटक में कहीं कहीं छोटे छोटे संवाद भी प्रभावपूर्ण लगते हैं -- उदा.--

वसन्तसेना - अभी यहाँ धूप है देवी।

रोहिणी - और मैं मोम हूँ, गली जा रही हूँ क्यों ?

वसन्तसेना - सारा दिन आहार नहीं किया आपने।

रोहिणी - तो ...(भवें टेढ़ी हो उठती हैं।

इस प्रकार छोटे छोटे संवाद भी अच्छे लगते हैं। कथोपकथन की दृष्टि से यह नाटक सफल नाटक है।

देशकाल-वातावरण विधान का स्वरूप --

नाटक में देश-काल के चित्रण का भी अपना एक विशेष महत्व होता हैं। देश काल का चित्रण नाटकों में स्वाभाविकता, सजीवता और औचित्य की प्रतिष्ठा करने में समर्थ होते हैं। देशकाल के अंतर्गत नाटक में चित्रित युग विशेष सामाजिक,

राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विविध परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए । इन परिस्थितियों का विश्लेषण करके हम नाटक के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं । साथ ही उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है । नाटककार की कुशलता इसी में होती है कि वह कथावस्तु से सम्बन्धित युग की अवतारणा नाटक में स्वाभाविकता के साथ कर सके । ऐतिहासिक नाटककार का दायित्व तो इस दृष्टि से और भी अधिक होता है ।

' वितस्ता की लहरें ' में देशकाल वातावरण --

' यह ऐतिहासिक नाटक ' वितस्ता की लहरें ' गुप्त वंश से सम्बध्द है, इनमें इन कालों की देशकाल से सम्बन्धित व्यष्टिगत एवं समष्टिगत विशिष्टताओं का चित्रण भली प्रकार हुआ है । मिश्र जी ने अतीत को मूर्त स्वरूप प्रदान करने के निमित्त इतिहास प्रसिध्द घटनाओं एवं पात्रों के साथ काल्पनिक सामग्री का यथेष्ट उपयोग किया है और इसी कल्पना की रंगीन तूलिका के द्वारा तत्कालीन युगों का जीवन्त सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है । कई प्रसंग नाटककार की कुशल कल्पना से उद्भूत हैं, किन्तु उनमें उन्होंने विश्वसनीयता एवं ऐतिहासिक सम्भाव्यता ला दी है । यथा पुरु का चरित्र कुछ प्रौढ़ रूप में आता है, किन्तु उसका वह वीरत्वपूर्ण तेजस्वी एवं कर्मशील व्यक्तित्व इतिहास विरोधी नहीं कहा जा सकता । अतः इन रचनाओं में घटनाओं का मनमाना आरोप न होकर उनका बौध्दिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप उपस्थित करने का प्रयास किया गया है ।

इस नाटक में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का समुचित ज्ञान प्राप्त होने के साथ उन कालों के शासन प्रबन्ध राजा के अधिकारों, शासनपध्दतियों युध्द विधानों, धार्मिक विश्वासों और संघर्षों, सामाजिक, परम्पराओं, उत्सवों, वस्त्राभूषणों तथा लोकव्यवहार सम्बन्धी सांस्कृतिक इतिहास के सजीव व सूक्ष्म चित्र प्राप्त हो जाते हैं । नाटककार ने इस कृति की कोरी ऐतिहासिक रूपरेखा में कल्पना का प्रचुर प्रयोग करते हुए भी इनकी परिस्थितियों व घटनाओं को मनोवैज्ञानिक एवं यथार्थ रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है और

वातावरण को भी पूर्ण ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न किया है। मिश्र जी ने भाव-भाषा, आचार-विचार तथा राजनीति को इस कौशल से चित्रित किया है कि उस काल की भारतीय संस्कृति का सजीव रूप प्राप्त हो जाता है। पात्रों के नाम, उनका पद तथा वेशभूषा और आभूषण तथा पात्रों के वार्तालाप व आचरण सभी देशकालानुरूप हैं। वातावरण निर्माण करने के लिए भाषा संस्कृत प्रचुर भाषा है। 'वितस्ता' नदी का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस नाटक में दिये गये भौगोलिक विवरणों से भी वातावरण की अभिव्यक्ति हो जाती है।

इस प्रकार 'वितस्ता की लहरें' नाटक में उस काल की राजनीतिक परिस्थितियों एवं संघर्षों तथा सामाजिक प्रयोगों का यथार्थ परिचय देने के साथ तत्कालीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डालने में समर्थ है। देशकाल वातावरण की दृष्टि से यह रचना सफल है।

भाषा-शैली --

भाषा का परिधान पहनाकर साहित्यकार भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। भाषा विचारानुभूतियों की संवाहिका है। संगीतात्मकता, मुहावरे तथा लोकोक्तियों से भाषा का सौन्दर्य बढ़ जाता है। जीवन्त भाषा लोकहृदयानुरंजन कारिणी संवेदना के सफल स्पर्श द्वारा ही सम्भव है, जो अपनी पूर्णता के लिए ओज, माधुर्य एवं प्रसादगुण सम्बधी सम्पूर्ण उपादानों को आत्मसात् कर लेती है। पांडित्य प्रदर्शन की अपेक्षा भाव एवं अर्थ के लालित्य से संश्लिष्ट भाषा ही प्रभावोत्पादक होती है। प्रभावान्विति की दृष्टि से साहित्यकार बोलचाल अथवा साहित्यिक में से किसी एक का अवलम्ब ग्रहण करता है।

नाट्येतर साहित्यिक विधाओं में भाषा की सर्वोपरि महत्ता निर्विवाद रूप में अभिस्वीकृत होती है, किन्तु नाटक में भावाभिव्यक्ति की महत्ता अकाट्य रूप में स्वीकृत है। हम कह सकते हैं कि, नाटक में भाषा एक ऐसा साधन है जिसके सारल्य अथवा क्लिष्ट प्रारूपों का विवाद इतना महत्वपूर्ण नहीं है, परन्तु 'नाटकोचित-भाषा' प्रयोग के विषय में नाटककारों के मत भिन्नता पाई जाती है।

जाति तथा पात्रगत भाषा के समर्थक उसकी एकसता के निवारणार्थ बहुभाषा बोलियों के प्रयोगौचित्य को स्वीकृत करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अनेक-विध भाषाओं का प्रयोग विशेष उपयोगी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वप्रथम तो कोई नाटककार विभिन्न प्रांतीय भाषाओं को नहीं जानता किन्तु संयोगवश वह नाटक में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करने में सफल भी हो जाए, तो दर्शक विभिन्न भाषाओं को समझाने में असमर्थ हो सकते हैं।

पात्रों के भावगत गाम्भीर्य एवं सारल्य के अनुसार उनमें तद्वत् भाषा का प्रयोग होना चाहिए। यदि पात्रों की सभ्यता, संस्कृति तथा देश-काल के वैषम्य की अभिव्यक्ति अभिप्रेत हो, तो उनके भावों में वैचित्र्य उत्पन्न करना श्रेयस्कर है, किन्तु उनकी भाषाएँ पृथक-पृथक नही होनी चाहिए। पात्रानुकूल भाषा की अपेक्षा भावानुरूप भाषा का प्रयोग प्रभावान्विति की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। अत: सहजता एवं स्वाभाविकता को बनाए रखने के लिए साहित्यकार पात्रानुकूल भाषा का व्यवहार करता हैं।

सहजता, स्वाभाविकता एवं प्रभावान्विति को बनाए रखने के लिए नाटककार पात्र-विशेष की शिक्षा-दीक्षा, जातिगत संस्कार, मनोवृत्ति एवं विश्वास आदि के अनुसार ही भाषा-संयोजना करता हैं। पात्रानुसार भाषा से हमारा तात्पर्य भिन्न भिन्न भाषा-भाषी पात्रों की भाषा-उपभाषाओं से नहीं, बल्कि पात्रों की मानसिक अवस्था, बौद्धिक स्तर एवं पदानुसार भाषा प्रयोग से हैं।

भाषा - 'वितस्ता की लहरें'

'वितस्ता की लहरें' नाटक की भाषा प्रवाहमय हैं। भाषा पात्रानुकूल एवं तत्कालीन परिस्थितियों का बोध करानेवाली हैं। ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रहरी, युवराज, वैतालिक, राजवधू इत्यादि जैसे राजपदीय शब्दों का प्रयोग किया गया हैं। इस नाटक की भाषा के विषय में डा. शत्रुघ्न प्रसाद का कथन हैं "हम तद्भव शब्दों का प्रयोग नहीं करते, प्रयोग हो जाता हैं। तत्सम को तो लेना पडता हैं। परन्तु, तद्भव शब्द तो हिन्दी की नींव हैं। नाटककार ने तद्भव की इस महत्ता पर ध्यान रखा हैं। तद्भव तथा तत्सम का मेल स्वाभाविक रूप से हुआ हैं। आँख, आँचल,

मुँह, घडी, रात,काठ, रतनार,आधा,कोना, निमना,नाता घाट और फेर आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं । [1]

हिन्दी के चलते मुहावरों का प्रयोग भी इस नाटक में हैं -- जैसे नाक काटना (पृ.२२,३१), कोना कोना छान डालना (पृ.३१), बौने का चन्द्रमा छूना (पृ.११५), हाथ रोपे पेड को काटना (पृ.१०१), दिल बैठ जाना,हथेली पर प्राण लेना इत्यादि ।

शैली --

मिश्र जी के अधिकांश नाटक,नाट्यकला की दृष्टि से स्वाभाविक एवं सुन्दर बन पडे हैं । वितस्ता की लहरें इस ऐतिहासिक कृति की भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं शुध्द हैं । मिश्र के रचनाओं में भावचित्रण के साथ बौध्दिक विवेचन पर अत्यधिक बल दिया गया है । मिश्र जी पर इब्सन और शॉ का प्रभाव दिखाई देता हैं । यह प्रभाव मिश्र की रचनाओं के ऊपरी आकार व बाह्य रूप रंग से स्पष्ट परिलक्षित होता हैं । इस रचना का अंत काफी स्वाभाविक बन पडा हैं । वितस्ता की लहरें के अंत में एक ओर [illegible] होती हैं वहाँ दूसरी ओर पारस नरेश दयारबहु की दूसरी कन्या [illegible] का हाथ राजकुमार भद्रबाहु के हाथ [illegible] सौंपा जाता हैं ।

" वितस्ता की लहरें " में जहाँ [illegible] का उद्योग होने के कारण भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थ प्रकृतियाँ,कार्यावस्था एवं सन्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जहाँ दूसरी ओर इनमें उच्चकोटि के नाटकीय संघर्ष - बौध्दिक मानसिक एवं भौतिक संघर्ष की [illegible] मात्रा होने के कारण पाश्चात्य शास्त्रज्ञों द्वारा सम्पादित संघर्ष की अवस्थाएँ-आरम्भ,विकास,चरमसीमा,[illegible] और अन्त आदि का भी निवेश हो गया है । इसप्रकार वितस्ता की लहरें में भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पाँच कार्य अवस्थाएँ आरम्भ,प्रयत्न,प्राप्त्याशा,नियताप्ति और फलागम [illegible] प्रकार नियोजित हुई हैं ।

---

१ डा.शत्रुघ्नप्रसाद - लक्ष्मीनारायण मिश्र के ऐतिहासिक नाटक - पृ. २७८ ।

इस प्रकार मिश्र जी के समस्या नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों की भाषा अधिक स्वाभाविक, सशक्त, परिष्कृत, प्रवाहमय एवं प्रभावोत्पादक है। शब्द की तीनों शक्तियों के गुण ओज, माधुर्य और प्रसाद आदि की प्रतिष्ठा भव्यता से हुई है। भाषा संस्कृतनिष्ठ एवं शुध्द होने के साथ बोधगम्य, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावव्यंजक भी है। इसमें नाटकत्व एवं कवित्व का सामंजस्य सुन्दर रूप से हुआ है। पात्रानुकूल शब्दों का चुनाव किया गया है। चुने हुए विशिष्ट शब्दों में पात्रों द्वारा अपनी अन्त प्रवृत्तियों एवं मनोभावों को अभिव्यक्त कराने में नाटककार को पूर्ण सफलता मिली है। उदा --

रोहिणी -- ' छी: मन की रोक यम के पाश से भी कड़ी होती है। पर तू नहीं जानेगी इसे। यवन-भूमि नहीं है यह, जहाँ कोई रोक, कोई बन्धन नहीं है। इस भूमि से बन्धन के अंकुर फूटते हैं, पति के प्रति, पुत्र के प्रति, जन-जन के प्रति, पशु-पक्षी, वृक्ष के प्रति। नदी और पहाड़ के प्रति भी हमारे बन्धन हैं, यवन कन्या। तुम नहीं जानोगी यह सब। ' (पृ. २४)

यह नाटक ऐतिहासिक होने के कारण इसकी भाषा में वीरोचित भाषा का उपयोग हुआ है। भाषा में देश के प्रति परिकल्पना दिखाई देती है - उदा. ---

विष्णुगुप्त -- ' मेरा दायित्व देश और देश के सामने है। गान्धार, अभिसार, कैकय, कठ, सौभूति, सौवीर और अनेक ऐसे जनपदों के रूप में नहीं सोचता मैं। मेरी भावना में उस विशाल भारत की मूर्ति है जिसके चरण समुद्र धो रहा है, हिमालय जिसका किरीट है, विन्ध्य जिसकी मेखला है, पूर्व और पश्चिम के समुद्र तट की भुजाएँ हैं। जिस दिन यह सारा देश राष्ट्र-शरीर का रूप ले लेगा उस दिन .... । '

इस प्रकार ' वितस्ता की लहरें ' नाटक की भाषाशैली उचित है।

उद्देश्य - विधान का स्वरूप --

प्रत्येक रचना में रचनाकार का एक निश्चित उद्देश्य रहता है। यदि वह पहले से कोई उद्देश्य बनाकर रचना करने नहीं बैठता, तो भी सम्प्रेषित होते समय प्रच्छन्न रूप से ही सही, उद्देश्य की सन्निहिति हो जाती है। बिना प्रयोजन रचना का वैसे भी कोई महत्त्व नहीं होता। कुछ नहीं तो कम से कम मनोरंजन तो उससे मिलता ही है, यद्यपि यह उसे मूल्यांकित करने का बहुत श्रेष्ठ मानदंड नहीं है।

साहित्य में व्यक्ति और उसका परिवेश सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त होता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने साहित्य के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए उसमें ब्रम्हानंद सहोदर 'रस' की प्राप्ति का उल्लेख तो किया है, साथ ही यश और धन की प्राप्ति को भी उसी में रख दिया है। रस की प्राप्ति उनके द्वारा निर्दिष्ट ऐसा उद्देश्य है जिसकी अपेक्षा आज भी साहित्य से की जाती है। दर्शक सर्वप्रथम इस अलौकिक आनंद की प्राप्ति करना चाहता है। एक बात ध्यान में आती है कि, आचार्यों ने जहाँ साहित्य के विविध उद्देश्यों की गणना की, वहाँ नाटक को [illegible] एक ही लौकिक रस [illegible]। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में इसी धारणा की पुष्टि करते हुए नाट्य को भिन्न रुचि के लोगों का अकेले मनोरंजन करनेवाला स्वीकार किया है।

इससे यह व्यक्त हो जाता है, कि नाटक दर्शक के अन्तर को रसमग्न कर उसे आह्लादित करता है। लेकिन नाट्य-रचना के संदर्भ में एकमात्र यही दृष्टिकोण रहता है, ऐसा नहीं है। नयी मान्यताओं के अनुसार उसके अनेक प्रयोजनों की अपेक्षा की जाने लगी। ऐतिहासिक कथानक की ओर आकर्षित होने के मूल में नाटककारों के विभिन्न उद्देश्य रहते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की प्रवृत्तियों को देखने से यह बात ध्यान में आती है, कि इनकी रचना दोनों ही स्थितियों में हुई है। राष्ट्र स्वतंत्र समाज उन्नत जब जीवन सम्पन्न रहा है, तब भी ऐतिहासिक नाटकों की रचना हुई है और जब राष्ट्र परतंत्र समाज विशृंखल जन जीवन संत्रस्त रहा है उस समय भी ये लिखे गए हैं। इससे

सूचित होता है, कि अतीत की ओर परिवर्तित होने में एक उद्देश्य कभी नहीं रहा। ऐतिहासिक नाटकों की रचना कभी वर्तमान समस्याओं को मुखरित करने के लिए हुई, कभी इतिहास को पुनर्निर्मित करने के लिए। कभी राष्ट्रीय चेतना का स्वर ऊँचा रहा। अतीत को आधार बनाकर ऐतिहासिक नाटक वर्तमान से भी सम्बन्ध रखता है और भविष्य की संभावनाओं का भी संकेत देता है।

ऐतिहासिक कथावस्तु को आधार बनाकर नाट्य रचना करने में नाटककार के निम्नलिखित उद्देश्य हैं --

१) इतिहास को पुनर्निर्मित करने की आकांक्षा।

२) अतीत के सांस्कृतिक चित्रण की भावना।

३) राष्ट्रीय चेतना, जातीय गौरव आदि से प्रेरित होकर इतिहास के आदर्श चरित्रों की स्थापना।

४) वर्तमान जटिलताओं से बचने के लिए अतीत में पलायन।

५) वर्तमान समस्याओं का अतीत के माध्यम से प्रस्तुतीकरण और उनका समाधान निकालने की चेष्टा।

इतिहास को पुनर्निर्मित करना इतिहासकार का काम है। ऐतिहासिक नाटककार उसके द्वारा निर्दिष्ट तथ्यों पर अपने को निर्भर करता है, उनकी खोज में वह प्रवृत्त नहीं होता। लेकिन कभी कभी ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की रचना इतिहास के विकृत तथ्यों को सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए भी होती है। इतिहासकार अतीत का तथ्यपरक निर्माण करता है और ऐतिहासिक नाटककार कल्पनात्मक तटस्थता से अतीत को देखता है। एक का सम्बन्ध राजनीति से होता है, दूसरे का नीति से।

अतीत की सांस्कृतिक एवं सामाजिक झाँकी देने के लिए भी ऐतिहासिक नाटकों की रचना की जाती है। इनमें नाटककार का उद्देश्य केवल प्राचीन संस्कृति का यथातथ्य अंकन ही होता है। यह प्रवृत्ति सांस्कृतिक नाटकों में अधिक मिलती है। नाटककार को ऐतिहासिक नाट्य-रचना की ओर प्रेरित करने में राष्ट्रीय चेतना एवं जातीय गौरव का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने राष्ट्र के

प्रति एक दायित्व होता है। इसलिए उसकी मर्यादा को अक्षुण्ण रखना वह अपना कर्तव्य समझता है। जब भी राष्ट्र की मर्यादा बाधित होती है, सामूहिक रूप से उसे दूर करने के प्रयास किये जाते हैं। ऐतिहासिक नाटककार इस दायित्व को पूरा करने के लिए अपनी रचना के माध्यम से इस तरह की चेतना जाग्रत करता है जो लोगों में राष्ट्रीय सजगता ला सके, इतिहास से ऐसे चरित्रों का आदर्श वह सामने रखता है, जिन्होंने राष्ट्रहित के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर अपने को अर्पण कर दिया है।

राष्ट्रीयता की भाँति जातीय गौरव की भावना भी ऐतिहासिक नाटक-रचना में प्रेरक रही है। जातीय गौरव की महत्ता दिखाने के लिए विशिष्ट चरित्रों को लेकर नाटक की रचना की जाती है। चरित्र नियोजन में भी यही ध्यान रखा जाता है कि वह आदर्श चरित्र हो जिससे प्रेरणा मिल सके। नाटककार अपने युग की समस्याओं को अतीत के सन्दर्भ में देखता है। इससे पहला लाभ यह होता है, कि उन्हें प्रत्यक्ष कराने के लिए बनी बनायी भूमि मिल जाती है, दूसरा अतीत के सन्दर्भ में [illegible] अधिक प्रभावशाली एवं ग्राह्य बन जाते हैं। इसप्रकार ऐतिहासिक नाटक वह दर्पण होता है, जिसमें हम अपनी सामाजिक जीवन की छाया देखते हैं।

अभिनेयता-विधान का स्वरूप --

हिन्दी काव्यशास्त्र में काव्य शब्द का प्रयोग आमतौर पर साहित्य के अर्थ में प्रयुक्त किया है। काव्य के दो रूप बताये गये हैं -- दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य। इनमें से जिसे हम साधारणत: काव्य कहते हैं, वह श्रव्य काव्य है और दृश्यकाव्य से तात्पर्य है नाटक, क्योंकि उसे देखना महत्त्वपूर्ण विधाय है। देख न सकने पर हम उसे पढ़ने से या सुनने से काम चलाते हैं। दर्शकों के द्वारा सीधे देखी जानेवाली यह कला है, इसलिए अभिनय इस कला का प्राण है। इसकारण कालिदास ने कहा है -- स्वयं रुद्रदेवता ने याने नटराज ने अपने ही शरीर के दो भागों को विभक्त करके अखंडित रूप में नाट्य द्वारा उसे प्रस्तुत किया है, तात्पर्य यह कि नाटक में, जैसे कि समाज

में भी है, नर और नारी मिलकर पूर्ण जीवन के दर्शन कराते हैं । नाटक में ही इस जीवन का विविध रसों से भरा लोकचरित-सात्विक, राजस और तामस तीनों गुणों से युक्त चित्रित किया जाता है । इस कारण एक नाटक में उन सभी रसिक दर्शकों का समाधान करने की क्षमता है जिनकी अभिरुचि अलग प्रकार की भी हो ।

अभिनेयता नाटक की प्राणभूत विशेषता है । वास्तव में नाटक को नाटकत्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है, इसलिए इसके लिए नाटकीयता शब्द पर्याय के रूप में किया जाता है ।

अभिनय की व्युत्पत्ति --

अभिनय शब्द 'अभि पूर्वक 'नी' धातु से बना है । अभिनय का अर्थ होता है सम्मुख ले जाना ।

भट्ट तौत आचार्य के मतानुसार 'जो कला सामाजिक का ध्यान इस सीमा तक आकृष्ट कर ले कि अन्य क्रियाओं का उसे ध्यान भी न रहे । वह अभिनय कला है ।

अभिनय की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है, कि भारत में अभिनय की सबसे प्रमुख विशेषता है सामाजिकों के चित को पूर्णतया आकृष्ट कर लेना । सामाजिक के चिताकर्षण की प्रक्रिया चतुर्मुखी हो सकती है । इसीलिए अभिनय चार प्रकार के बताये गए हैं -- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक । विविध अंगों की प्रक्षेपण प्रक्रिया को आंगिक और गीत प्रबन्धादि के पाठ को वाचिक, भूषणादि की साज-सज्जा को आहार्य और स्वेद, स्तम्भ, रोमांचादि को सात्विक अभिनय कहते हैं । इसप्रकार स्पष्ट होता है कि जिन नाटकों में समाज के चिताकर्षक उपर्युक्त चतुर्विध सामग्री होती है उसी को अभिनय नाटक कहते हैं । रूप और चेष्टा के साथ किया गया अवस्थाओं का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है । इसप्रकार स्पष्ट है कि भारतीय दृश्य काव्य का प्राण अभिनय तत्व है ।

'वितस्ता की लहरें' में अभिनेयता --

'वितस्ता की लहरें' नाटक का विभाजन तीन अंकों में हुआ है। नाटक की दृश्यसज्जा दुरुह है। पहले अंक में पुरु कैकय का राजभवन दिखाया गया है। भवन के सामने वितस्ता के तट तक फैला उद्यान है। दूसरे अंक में भी वही दृश्य दिखाई पड़ता है, किन्तु अनेक प्राकृतिक दृश्य जैसे उपवन, सरोवर, लतागृह इत्यादि के साथ। तृतीय अंक में युद्ध है, जिसमें युद्ध का जटिल दृश्य दिखाया गया है हाथी, घोड़े, रथ इत्यादि। कुल मिलाकर रंगशिल्प पर ध्यान दिया जाए तो ऐसा लगता है, कि सारे सुझाए गए दृश्य तो मंचस्थ करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। अलिकसुन्दर का पुरु के हाथी से बचना, रजनी का भवन जलना आदि अनेक ऐसे प्रसंग भरे पड़े हैं, जो नाटक की मंचीयता में बाधक बनकर 'दृश्यकाव्य' को 'श्रव्य' बनाने में उद्यत से लगते हैं। कहीं कहीं संवादों में भी अस्वाभाविक लंबाई है।

उदा -- रोहिणी -- दुःख का बोध जिसे जितना अधिक होता है, उसी मात्रा में स्नेह की चाह भी बढ़ती है। हम लोगों का दोष नहीं है बन। हमारी प्रकृति का यह [illegible] है। ([illegible]) कहो, क्या तुम्हें नहीं रुचते वे ? ' (पृ. ५४)

इस प्रकार प्रभावकारी संवाद होते हुए भी अस्वाभाविक लंबाई दिखाई देती है।

रस-विधान का स्वरूप --

भारतीय नाट्य-रचना पद्धति में रस दृश्यकाव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। 'अग्निपुराण' में मुख्य रस चार माने गये हैं -- शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इन चार रसों के आधार से शेष रसों की उत्पत्ति होती है। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुणा, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ है। अर्थात् मुख्य चार रस स्वाधीन हैं तथा स्वाभाविक हैं और शेष परजन्य हैं। अग्निपुराण भी शान्त रस की स्थिति को स्वीकार करते हुए नौ रस मानता है, किन्तु शान्त का उल्लेख मात्र ही पाया जाता है। अग्निपुराण कहता है, कि जिसप्रकार बिना अलंकार

के स्त्री सुशोभित नहीं होती, उसीप्रकार काव्य भी रसों के बिना शोभित नहीं होता ।

रस-निष्पत्ति सम्बन्धी विवाद --

आचार्य भरत का प्रसिध्द सूत्र है, कि विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पति होती है । इसी सिध्दांत को लेकर अभिनव गुप्त भट्ट लोल्लट, शंकुक आदि के द्वारा बहुत विवाद उठ खडा हुआ, जिनको लेकर भट्ट लोल्लट ने उत्पतिवाद, शंकुक ने अनुमितिवाद भट्ट नायक ने भुक्तिवाद और अभिनव गुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की । भट्ट लोल्लट ने अपना मत इसप्रकार प्रकट किया है कि रस वस्तुत: नायक आदि पात्रों में उत्पन्न होता है । शंकुक ने निष्पति का अर्थ अनुमति माना क्योंकि प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का आरोप कर स्वयं रसास्वादन करता है । भट्ट नायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस अवस्थिति मानी है । अभिनव गुप्त के अनुसार संयोग का अर्थ ध्वनित या व्यंजित होना है और निष्पत्ति का अर्थ आनन्द रूप में प्रकाशित होना है ।

अनेक शास्त्रज्ञों ने रस की स्थिति सहृदय प्रेक्षक में मानी है । विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा स्थायी भाव जब परिपुष्ट होकर आस्वाद्य बना दिया जाता है तो वही रस कहलाता है । भरत मुनि के अनुसार रसों का आधार भाव है । जिसप्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल होते है, उसी प्रकार समस्त रस मौलिक है । उनके द्वारा भावों की व्यवस्था होती है । भाव, विभाव, आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी रस तथा इसके भेद आदि के विषय में भारतीय आचार्यों ने अत्यन्त विस्तार और गहराई के साथ विचार किया है । यहाँ तो इतनाही कहना है, कि जब पाठकों या दर्शकों के हृदय में रति आदि स्थायी भाव स्वाद के योग्य बन जाते है तो उन्हे रस की संज्ञा दी जाती है । आलंबन, उद्दीपन, विभाव, विक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव रोमांच स्वेदादि सात्विक भावों एवं ग्लानिश्रम, शंका असूयादि व्यभिचारी भावों के द्वारा नाटक का प्रदर्शन देखकर परिपुष्टावस्था को प्राप्त किया हुआ स्थायी भाव इसदशा को प्राप्त करता है ।

'वितस्ता की लहरें' में रस-निष्पति --

'वितस्ता की लहरें' नाटक का प्रधान रस वीर रस है और नायक है महाराज पुरू । पुरू धीरोदात्त नायक के रूप में वर्णित हैं । वीररस के आश्रय महाराज पुरू, आलम्बन अलिकसुन्दर तथा उसके सैनिक उद्दीपन, अलिकसुन्दर का चोरी से वितस्ता पार करना तथा उसका युध्द व्यापार हैं । पुरू की वाणी तथा कार्यों में अनुभावों की अभिव्यक्ति समस्त नाटक में वर्तमान है । उदा० 'मेरे साथ उसका कोई एक सेनापति या कई बारी-बारी से समर कर ले ।' (पृ.७५) इस प्रकार संचारी भावों में धैर्य, गर्व, स्मृति आदि भी यथास्थान वर्तमान हैं ।

शृंगार रस का परिपाक राजकुमार रुद्रदत्त तथा रजनी के प्रणय-प्रसंगों में हुआ है और शृंगार रस के सभी घटक नाटक में वर्तमान हैं । शृंगार के आश्रय राजकुमार रुद्रदत्त हैं और आलम्बन रजनी । रजनी की चेष्टाओं में उद्दीपन भाव विशेष रूप से निखरे हैं । रजनी का रूद्रदत का चित्र बनाने का प्रसंग इस विषय में विशेष उल्लेखनीय है । इस नाटक का प्रधान रस वीर रस है परन्तु वह राजनीतिक कलात्मक जागरूकता का प्रतिबिम्ब पाते हैं ।

नाटक में प्राय: एक उद्देश्य के साथ अन्य उद्देश्य भी गौण रूप से मिल जाते हैं । हिन्दी में भारतेन्दु काल में प्रमुखत: राष्ट्रीय चेतना के उद्देश्य से ही नाटक लिखे गए लेकिन उस समय की अन्य समस्याओं का समाधान भी इनके साथ निकालने का प्रयास किया गया । इसलिए ऐसा विभाजन नहीं किया जा सकता कि किसी ऐतिहासिक नाटक में एक ही उद्देश्य होगा, दूसरा नहीं । लेकिन इतना अवश्य है कि इनमें से प्रधान उद्देश्य एक ही हो सकता है ।

'वितस्ता की लहरें' उद्देश्य --

'वितस्ता की लहरें' नाटक में मिश्र जी ने भारतीय संस्कृति के समन्वित रूप को उपस्थित करने का प्रयास किया है । नाटककार की दृष्टि में हमारी संस्कृति का सच्चा स्वरूप भौतिकता और आध्यात्मिकता भोग और तप के समन्वय में

निहित है । इनके अनुसार राग और विराग परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है । केवल भोग जीवन का उपहास है तो केवल वैराग्यवृति जीवन की अस्वीकृति । मिश्र की इन सांस्कृतिक रचनाओं की यही विचारधारा अथवा जीवन दर्शन है ।

" वितस्ता की लहरें " में भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण की प्रमुखता है । इसमें पुरु और अलिकसुन्दर का युध्द तो निमित्तमात्र है । दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर है जो अपने विधि-विधानों और जीवन दर्शन में एक दूसरे से सर्वथा विपरीत थी । पुरु भारतीय संस्कृति का प्रतीक है तो अलिकसुन्दर यूनानी संस्कृति का प्रतीक है । नाटककार ने इन्ही के आचार और व्यवहार द्वारा इन्हीं दो संस्कृतियों की भिन्नता पर प्रकाश डाला है । पुरु और केकय जनपद के नागरिक धर्म की रक्षा करने के लिए युध्द करते है, तो सिकन्दर और उसके सैनिक विजय के उन्माद में सुरा और सुन्दरी के मोह में पडकर युध्द करते थे । धर्म की रक्षा में कर्मभाव से किए गए इन युध्दों में शत्रुभाव व छलकपट की भावना का सर्वथा अभाव रहता था । यही कारण है कि पुरु अपने शत्रु अलिकसुन्दर को भी हाथी की सूँड में विवश देखकर उसकी रक्षा करता है । जब कि इसके सर्वथा विपरीत यूनानी संस्कृति आसुरी वृत्तियों एवं छलकपट पर आश्रित है, जिसमें स्वार्थ, लिप्सा, भोग और निर्दयता का बोलबाला है । ताया भारतीयों के सदाचरण एवं निष्कपटता से अभिभूत होकर इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा करती है और अपना आखेट करनेवाली सेना को कुछ सीखने का परामर्श देती है । नाटक के अंत में पुरु की विजय और सिकंदर की पराजय दिखाकर नाटककार ने यह दिखाया है, कि सात्विकता की दानवता पर विजय होती है । पुरु की वीरता तथा धर्मपूर्ण विचारधारा सिकन्दर के अहंकार और उन्माद के आवेग तथा कामिनी के मोह पर विजय प्राप्त करती है । भारतीयों की कर्तव्य भावना और विचार पवित्रता से अलिकसुन्दर के हृदयपरिवर्तन के साथ उसकी दम्भ और मोह के नशे में अंधी हुई आँखों को प्रकाश भी मिलता है । इस पुनरुत्थानवादिता के अतिरिक्त इस रचना में देशभक्ति और राष्ट्र के लिए प्राणार्पण करने की भावना का प्रतिपादन भी हुआ है । पुरु केकय नागरिक तथा

स्नातक आदि सभी के कार्यों एवं कथनों से इसका रुप भली प्रकार परिलक्षित हो उठता हैं।

इस प्रकार `वितस्ता की लहरें` नाटक रचना उद्देश्य की दृष्टि से सफल हैं। नाटककार को इनमें भारतीय संस्कृति और उसके उदात्त आदर्शों तथा भारतीयों की देशभक्ति एवं त्याग की भावना के चित्रों को उतारने में पर्याप्त सफलता मिली हैं। वह अवसर होते हुए भी स्पष्ट रुप में नहीं निखर पाया। वीरता केवल तर्क-वितर्क तक ही अधिकतर सीमित रही हैं, हाँ शृंगार का परिपाक अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण हैं।

इस प्रकार उत्तरी भारत पर पश्चिम की ओर से हमला करनेवालों में अलिक्सुन्दर पहला ज्ञात व्यक्ति हैं। वह जिस देश का निवासी था, उसका पुराना नाम था `आयोनिया` Ionia इसी शब्द का भारतीय रुपांतर बना 'यवन'। याने आयोनिया का वासी। भारतीय साहित्य में तब से पश्चिम की ओर से आकर हमला करनेवाले सभी आक्रमण वालों की को इसी नाम से पुकारा गया हैं। शुरु में अलिक्सुन्दर दक्षिण की ओर मुडा और आम्भी से मिलकर सिंधु नद पार कर गया, किन्तु उत्तर पूर्व में उसे वीरपुरुष पुरु का सामना करना पडा। और साथ ही तक्षशिला के विद्वान विष्णुगुप्त की बुद्धिमानी का सामना करना पडा। इतनी बडी महत्त्व सेना को वितस्ता के तीर पर जिसका साम्राज्य फैला था उस पुरु ने प्रतिकार किया और वितस्ता को लांघना उसके लिए कठिन हुआ। नाटककार ने वितस्ता को भारतीयों की नीति, निष्ठा, पराक्रम, त्याग भावना, सत्यव्रत आदि गुणों का प्रतिक माना है। वितस्ता के पानी की तरह ये सारे गुण भी एक पीढी से लेकर दूसरे पीढी तक बराबर प्रवाहमान हैं। इसतरह `वितस्ता की लहरें` बाहर से आनेवाले खासतौर पर पश्चिम से आनेवाले लौकिक एवं नैतिक और आध्यात्मिक आक्रमणों का सामना करने के लिए समर्थ सिद्ध हुये हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में जैसे निर्भय एवं सत्वनिष्ठ पुरु हैं वैसे संकुचित वृति के स्वार्थी भी हैं। इस विशाल देश की नैतिक और आध्यात्मिक एकता का आधार लौकिक ज्ञान दृष्टि ही हैं, जिसे विष्णुगुप्त जैसे महापुरुष ने पहचान लिया हैं। इसप्रकार पश्चिम के विकृत आक्रमण को रोकने का प्रयास आदिकाल से वितस्ता कर रही हैं।